

## विभिन्न भावात्मक प्रदूषण एवं भष्टाचार : कारण तथा निवारण



भावात्मक प्रदूषण का वृक्ष

लेखक :- वैज्ञानिक धर्मचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव



**महावीर जयन्ती, गब्ब विमोचन के कार्यक्रम (परसाद) को सम्बोधित करते हुए आचार्य कनक नन्दी गुरुदेव**



**6वीं अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी में आ. कनक नन्दी के साहित्य का विमोचन करते हुए महावीर मिण्डा, दुलीचन्द, वैज्ञानिक राजमल (इसरो) सोहनराज तातोड़ (जैन विश्व भारती), प्रो. सुशीलचन्द जैन (बडौत)**

## **विभिन्न भावात्मक प्रदूषण एवं भष्टाचार : कारण तथा निवारण**

**लेखक :**

**वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव**

**ग्रंथाङ्क - 157**

**प्रथम संस्करण - 2006**

**प्रतियाँ - 1000**

**मूल्य - 15.00/- रुपये**

**ज्ञानदाता -**

**प्रकाशक :**

**धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बडौत)**

**धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)**

**अक्षर रचना :- मुनि तीर्थनंदी, मुनि सच्चीदानंद**

**सहयोग - आर्थिका सत्यमती, सकलमती, जिनवाणी, गुरुवाणी, ब्र. प्रज्ञाश्री, ब्र. विद्याश्री (संघस्थ आ. कनकनंदी जी)**

**मुद्रक : यश प्रिन्टर्स, मुजफ्फरनगर**

## भारत में व्याप्त विभिन्न भृष्टाचार : कारण एवं निवारण

1) माहान् भारत के गौरव का वर्णन करते हुए प्राचीन कवियों ने कहा है -

गायनि देवाः किलगीतकानी धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ।  
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

विष्णुपुराण 2/6/24

देवगण भी गान करते हैं कि भारत भूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग कल्प इस देश में देवता भी देवत्व छोड़कर मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं।

अहो अमीषां किमकारिशोभनं प्रसन्न एषां सिदतु स्वयं हरिः ।  
यैर्जन्म लब्धं नृष भारताजिरे मुकुन्द सेवौपायिकं स्युहा हिनः ॥

श्रीमद्भावगत, 5/19/21

देवता भारतीय मनुष्यों के सौभग्य पर ईर्ष्या करते हुए कहते हैं - अहा ! इन लोगों ने न जाने ऐसे कौन से शुभ कर्म किए थे जिनके फल स्वरूप इन्हें भारत भूमि के प्राङ्गण में मानव जन्म सुलभ हुआ है। लगता है भगवान् स्वयं इन पर प्रसन्न हो गये थे। भगवान् की सेवा के योग्य ऐसा जन्म पाने की इच्छा तो हमारी भी होती है।

विश्वभरण पोषण कर जोई । ताकर नाम भारत अस होई ।  
जिनको न निजगौरव तथा निजदेश का अभिमान है ।

वह नर नहीं, नर पशु निरा और मृतक समान है ॥

\* Let our object be, our country, our whole contry and nothing but our country - Daniel Webster

\* Our country's welfare is first concern and who promotes that best proves his duty.

\* He who loves not his country, can love nothing - Haveli Byron

2) जिसमें उदार राष्ट्र भक्ति/राष्ट्रीयता नहीं है वह भी सच्चा धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रसेवक, लोकसेवक, व्यापारी, स्वयं सेवक, परोपकारी, शिक्षक, डॉक्टर, वकील, न्यायाधिश, अभियंता आदि नहीं बन सकता है। क्योंकि -

जननी जन्मभूमिश्च सर्गादपि गरीयसी ।

सर्वानुष्ठानदायमुखनिष्ठ वर्धन्ते । चाणक्य

जिस देश में कोई कार्य आरंभ करते समय राष्ट्रहितों को सर्वोपरि रखा जाता है, उस राष्ट्र की आय के साथ साधनों-सुविधा, सुख-शांति, वैभव, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा,

सभ्यता, संस्कृति, सुरक्षा आदि में वृद्धि होती है।

'स्वजनम् तर्पयित्वा यः शेष भोजी सोऽमृत भोजी ॥' चाणक्य

जो व्यक्ति जो कुछ धन, संपत्ति, विभूति, सत्ता, विद्या, सुख-शांति प्राप्त करता है उसके द्वारा पहले वह स्वजन, विश्वजन (क्योंकि 'उदार पुरुषाणां वसुधैव स्व कुटुम्बकम्') का तर्पण/संतुष्ट/सहायता करके बादमें स्वयं उपभोग करता है वह अमृत भागी होता है। अर्थात् वह शाश्वतिक सुख-शांति को प्राप्त करता है। "ॐ सहनाववतु । सहनैभुनक्तु । सहवीर्य करवावहे । तेजस्वीनावधीतमस्तु माविद्विषावहै । ॐ शांतिः ! ॐ शांतिः !! ॐ शांतिः !!!" हे परमात्मन् हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करे, पालन करे, शक्ति प्राप्त करे, अध्ययन की विद्या तेज पूर्ण हो, हम परस्पर द्रेष न करे। 'देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राजः करोतु शांतिः भगवान् जिनेन्द्र' देश, राष्ट्र, ग्राम, नगर, राजा की शांति को भगवान् जिनेन्द्र देव करे। 'कुर्वन्तु जगताम् शांतिं, वृषभाद्या जिनेश्वरा:' जगत की शांति वृषभादि जिनेश्वर करे।

उपर्युक्त महान् भावना/प्रार्थना/नीति से यह ध्वनित होता है कि महान् उदारशील व्यक्ति केवल पेट-पेटी-प्रजनन की सीमा में बंदी बनकर नहीं रहता है, परंतु स्वयं के - साथ-साथ परिवार, राष्ट्र, समाज, विश्व के हित के लिए प्रयत्नशील रहता है। भारतीय संस्कृति में तो राष्ट्र की सीमा को लांघकर सपूर्ण विश्व को भी अपने परिवार रूप में स्वीकार किया गया है। पृथ्वी को माता और पृथ्वी के प्रत्येक जीव को उसके पुत्र रूप में स्वीकार किया गया है।

राष्ट्र केवल कोई निर्जीव भूखंड मात्र नहीं है परंतु एक नैतिक, सुनिश्चित, सुव्यवस्थित मातृभूमि की सीमा में निवास करने वाले प्रत्येक वनस्पति से लेकर पशु-पक्षी, मनुष्य तथा प्राकृतिक संपदा से लेकर वहाँ की उत्तम शिक्षा, विद्या, सभ्यता, संस्कृति आदि ही यथार्थ से राष्ट्र है। जिस पर जहाँ कभी भी पानी नहीं बहता है ऐसी लम्बाकर जमीन के गड्ढे नदी नहीं है, उसी प्रकार जिस टापू में उपर्युक्त राष्ट्र की एकाइयाँ नहीं है उसे भी राष्ट्र नहीं कहा जाता है। इसलिए राष्ट्र भक्ति, राष्ट्रीयता का सही अर्थ है उपर्युक्त इकाइयों की रक्षा, सेवा, समृद्धि आदि।

**भारत के विभिन्न क्षेत्र के विविध भृष्टाचार :-** ट्रान्सपेरेन्सी इंटरनेशनल इंडिया के कार्यवाहक अध्यक्ष एस. डी. शर्मा ने कहा कि अध्ययन में भारत की 11 सार्वजनिक सेवाओं को शामिल किया गया और पुलिस को सबसे भ्रष्ट महकमें का खिताब मिला। आश्चर्यजनक रूप से न्यायपालिका दूसरे स्थान पर है और भूमि प्रशासन तीसरे स्थान पर है। भारत की भ्रष्टाचार की सबसे ज्यादा रकम यानि 4000 करोड रूपये से अधिक राशी का लेन-देन बारहवीं कक्षा तक के स्कूलों में हुआ। पुलिस विभाग में कीब

3900 करोड रूपये का भ्रष्टाचार हुआ और न्यायपालिका में 2630 करोड रूपये की राशी इधर-ऊधर हुई। दिल्ली में सार्वजनिक वितरण प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार देश में दूसरे स्थान पर रहा। सबसे ज्यादा भ्रष्टाचार सरकारी अस्पतालों में। बिजली सेवा दूसरे नंबर और सार्वजनिक वितरण प्रणाली तीसरे नंबर पर।

### भ्रष्ट राज्य और सेवा

पश्चिम बंगाल	जलपूर्ती सेवा
बिहार	पुलिस
जम्मु कश्मीर	न्यायपालिका
आंध्र प्रदेश	भूमि प्रशासन
केरल	अस्पताल
हिमाचल प्रदेश	बिजली
गुजरात	सार्वजनिक वितरण प्रणाली।

भारत की ऐसी पूर्वोक्त यूनिवर्सिटील ट्रान्सफेरेन्सी के होते हुए भी ट्रान्सफेरेन्सी इंटरनेशनल में जो भारत के कलंक प्रतिभासीत हो रहे हैं वह भारतीयों के लिए, भारतीय गरीमा के लिए शर्मनाक है, अपमानकर है। तथापि 'उपाय पूर्वन दुष्कर्म स्यात्' (चाणक्य) अर्थात् कोई कार्य उपाय पूर्वक किया जाय तो उसके सम्पन्न होने में कोई कठिनाई नहीं होती। 'दुसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञ' (चाणक्य) अर्थात् उपाय को जानने वाला व्यक्ति कठिन से कठिन कार्य को भी सरल साध्य बना देता है। जब भारतीय महापुरुषोंने मोह-माया-कर्म को नष्ट करके मानव को महा-मानव एवं भगवान् बनने के उपायों का शोध-बोध, प्रचार-प्रसार एवं प्रायोगिक करण किया तब भ्रष्टाचार रूपी इन्हें छोटे-से दोषों को दूर करने का उपाय तो सरल-सहज-सुसाध्य है। हाँ ! इसके लिए चाहिए व्यक्ति से लेकर समाज एवं राष्ट्र में सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, पवित्रता, परोपकारीता, परदुःख कातरता, राष्ट्रीयता, 'उदार पुरुषाणां वसुधैव स्व कुटुंबकम्' आदि भाव, व्यवहार, उपाय। निम्न में अलग-अलग विभाग के भ्रष्टाचार एवं उसके दूर करने के उपायों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कर रहा हूँ।

1) शिक्षा में भ्रष्टाचार एवं उसके दूर करने के उपाय :- भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षा/ज्ञानदान को सबसे पवित्रतम कर्तव्य में से एक कर्तव्य माना गया है। तीर्थঙ्कर, बुद्ध, ऋषि, मुनि आदि भी उपर्जित ज्ञान विश्व कल्याणार्थ स्वेच्छा से निःशुल्क रूप से दान करते थे। इतना ही नहीं प्राचीन गुरुकुल से लेकर विश्वविद्यालय तक में शिक्षक/गुरु भी निःशुल्क रूप से विद्या दान करते थे। उसकी व्यवस्था राजा-महाराजा, सेठ-साहुकार करते थे। आगे जाकर आर्थिक विनियम का युग आया, जिससे शिक्षक वेतन भोगी बने।

वर्तमान में तो सरकारी विद्यालयों में सरकार से शिक्षक आदि वेतन प्राप्त करते हैं तो निजी स्कूलों में विद्यार्थियों से प्राप्त धन राशि से वेतन प्राप्त करते हैं। तथापि विद्यालयों में शिक्षक समय पर जाते नहीं हैं, हाजरी लगाने के लिए जाने पर भी कक्षा में देर से जाते हैं। देर से जाने पर भी पढ़ाते नहीं हैं। ट्यूशन/कोर्सिंग करके विद्यार्थियों का समय, धन, श्रम का शोषण करते हैं। शिक्षक विद्यालय में सही ढंग से इसीलिए नहीं पढ़ाते हैं क्योंकि विद्यालय में अगर वे सही ढंग से पढ़ायेंगे तो विद्यार्थी ट्यूशन पढ़ने नहीं आयेंगे, जिससे वे उनका शोषण नहीं कर पायेंगे। विद्यार्थी कक्षा में इसलिए सही नहीं पढ़ते हैं क्योंकि वे सोचते हैं हम ट्यूशन पढ़कर के कोर्स पूरा कर लेंगे एवं अच्छे नंबर लेकर उत्तीर्ण हो जायेंगे। कारण जिस शिक्षक के पास जो बच्चे ट्यूशन पढ़ते हैं उन्हें वे अनैतिक रूप से अधिक नंबर देकर उत्तीर्ण कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रवेश में/जाली सर्टिफिकेट में/शिक्षा विभाग में/परीक्षा पेपर में धोखाधड़ी, शोषण, भ्रष्टाचार, अनैतिकता है। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक की आधारशिला शिक्षा में भी इस प्रकार भ्रष्टाचार होने पर अन्यान्य क्षेत्रों में भ्रष्टाचार होना स्वाभाविक है। जो विद्यार्थी जीवन में शोषित होते हैं वे आगे जाकर शोषण करते हैं। इसके साथ-साथ शिक्षा में सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, निष्पक्षता, प्रगतिशीलता, वैज्ञानिकता, भारतीय उच्च आध्यात्मिक संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, महापुरुषों के वर्णन में भी शिक्षा में कमी है। इसे भी दूर करना अनिवार्य है।

2) न्यायालय में भ्रष्टाचार और उसे दूर करने के उपाय :- व्यक्ति से लेकर राष्ट्र को सुव्यवस्थित, मर्यादित, अनुशासित करने का उत्तरदायित्व न्यायालय का है। न्याय में सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, निष्पक्षता, निलोभता, निडरता आदि गुण केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसके बिना केवल कागजी कानून, विदेशियों के द्वारा थोपा गया कानून, बाह्य साक्षी, लोभ-प्रलोभन, दबाव, पक्षपात से फैसला तो हो सकता है परंतु न्याय नहीं हो सकता है। मानव के लिए कानून है, न कि कानून के लिए मानव। कानून का मुख्य उद्देश्य है "परित्राणाय हि साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्" अर्थात् साधु, सज्जनों की रक्षा-सुरक्षा के लिए तथा दुष्ट, दुर्जन, आतङ्कवादी, दोषियों को अनुशासित करने के लिए कानून है। परंतु स्वतंत्रता के 59 वर्ष बाद भी भारतीय कानून उपर्युक्त मापदण्ड के अनुसार खरा नहीं है। अभी भी कानून में सत्ता, सम्पत्ति, दबाव, डर, प्रलोभन, पक्षपात, राजनैतिक भ्रष्टाचार आदि व्याप्त है। इसीलिए भारत में 10-20 रूपये का एक केस 10-20 वर्षों तक चलता है और लाखों रूपया बर्बाद हो जाता है। एक-एक छोटी-छोटी दुर्घटना को लेकर आयोग का गठन होता है और उसमें भी कोरोड़ों रूपया, समय, श्रम, शक्ति बर्बाद होती है। तथा उसका परिणाम निराशाजनक या विपरीत मिलता है। इसीलिए कानून से संबंधित पुलिस, वकील, न्यायाधिश, न्यायालय आदि से जनता

जितनी भयभीत है, उतनी चोर, डाकू, लुटेरों से भी भयभीत नहीं है। इस कानून के कारण ही जनता के चतुर्थ श्रेणी के नौकर पुलिस से लेकर जनसेवक, विधायक, सांसद, मंत्री तक जनता को न जीने देते हैं और न मरने देते हैं। मान लो कोई इन सब कारणों से संत्रस्त होकर आत्महत्या करना चाहता है और किसी कारण वशात् वह बच जाने पर उसे जीवन भर मृत्यु से भी अधिक दण्ड, यातनायें न्यायविभाग से पुरस्कार रूप में मिलता रहता है।

**3) राजनीति में भ्रष्टाचार एवं उसे दूर करने के उपाय :-** राष्ट्र की राज/श्रेष्ठ नीति ही राजनीति है जिससे राष्ट्र की सुरक्षा व्यवस्था, समृद्धि होती है। इस नीति से कार्य योजना के शोध-बोध, प्रचार-प्रसार, क्रियान्वयक को राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, नेता, मंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्राध्यक्ष आदि नाम से जाना जाता है। परंतु भारत के राजा-महाराजाओं के आपसी फूट-संघर्ष से लाभ उठाकर विदेशी आक्रान्तोंने भारत को दीर्घकाल तक गुलाम बनाया, शोषण किया, नष्ट-भ्रष्ट किया एवं विभिन्न यातनायें दी। आजादी के 59 वर्षों के बाद भी लोकतंत्रात्मक भारत में न पहले के राजा है, न राजनीति। इसमें शिक्षा, कानून, नेता के साथ-साथ प्रजा भी दोषी है। भले पहले राजतंत्र में 'यथा राजा तथा प्रजा' नीति सही हो परंतु वर्तमान में 'यथा प्रजा तथा राजा' की नीति भी कुछ अंश में सही है। नहीं तो दुष्ट, दुर्जन, गुण्डे, चोर, डाकू, लुटेरे, माफिया सरगना, भ्रष्टाचारी, फैशनी-व्यसनी, हिंसक, आतङ्कवादी नेता को प्रजा क्यों चुनती है? केवल एक बार नहीं अनेक बार भी। ऐसे नेता, मंत्री को केवल सामान्य प्रजा ही नहीं, उच्च साक्षर व्यक्ति, उद्योगपति से लेकर धार्मिक नेता से लेकर साधु-संत तक अनावश्यक अति महत्व देते हैं; जिससे उन नेताओं को अपने दोष भी गुण प्रतीत होने लगते हैं और स्वदोषों को सुधारने के बदले में और भी वृद्धि करते हैं। अतः राजनीति में सुधार के लिए उपर्युक्त संपूर्ण विधाओं में भी सुधार की अनिवार्यता है।

**4) अस्पताल एवं सार्वजनिक सेवा में भ्रष्टाचार एवं उसके सुधार के उपाय :-** उपर्युक्त सुधारों से भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अस्पताल एवं सार्वजनिक सेवा के सुधार में भी प्रभाव पड़ेगा। अस्पताल एवं सार्वजनिक सेवा क्षेत्र को पवित्र, धार्मिक आराधना स्थल; वहाँ के सेवारत डॉक्टर, परिचारक-परिचारिका आदि कार्यकर्ता सच्चे सेवक/पूजक/भक्त तथा वहाँ आगत रोगी, जरूरत मंदों को आराध्य मानकर स्वकर्तव्यों का पालन करने पर भ्रष्टाचार संभव ही नहीं है। परंतु अस्पताल आदि को शिकारगाह, वहाँ के कार्यकर्ता शिकारी एवं सेवार्थी आने वाले रोगियों को शिकार रूप से मानने पर भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार/सुविधा शुल्क बन गया है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए।

**5) भ्रष्टाचार के प्रायोजक सिनेमा, टी.वी. के नट-नटी तथा निर्माता :-** निष्पक्ष, सूक्ष्म, व्यापक, गहन, गंभीर दृष्टिकोण से देखने पर स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उपर्युक्त

भ्रष्टाचारों के लिए बहुअंश में सिनेमा, टी.वी. के नट-नटी, हीरो-हिरोइन तथा निर्माता भी उत्तरदायी है। वे अश्लील, हिंसा, चोरी, फैशन-व्यसन, गुण्डागर्दी, छेड़खानी, बलात्कार, आतङ्कवाद, भ्रष्टाचार, राष्ट्रद्वेष आदि के आयोजक, प्रायोजक, कर्ता-धर्ता-भोक्ता, प्रचार-प्रसारक हैं। इन्हें भारत की जनता नायक-महानायक, सितारा, हस्ती, रोल-मॉडल मानती है जिससे उनका अनुकरण करती है। अतः विभिन्न भ्रष्टाचारों को दूर करने के लिए इनके जड़भूत अस्तित्व का सफाया अनिवार्य है।

**6) जनता भी भ्रष्टाचार की जननी :-** मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, एक दूसरे से प्रभावित होते हैं, सहयोग करते हैं, अनुकरण भी करते हैं। अतः व्यापक राष्ट्रीय उत्थान, सुरक्षा, संवर्धन, सुख-शांति के लिए प्रजा को भी तदनुकूल योग्य बनाना एवं बनाना प्राथमिक अनिवार्यता है। शिक्षा से लेकर सिनेमा तक में तो प्रजा ही होती है। इसके अतिरिक्त परिवार, समाज, सामाजिक-धार्मिक-राष्ट्रीय कार्यक्रम आदि में भी प्रजा ही होती है। यदि सोना अशुद्ध है तो उसे कितना भी प्रामणिक एवं चतुर शिल्पी किसी भी प्रकार के सुंदर से सुंदर अलङ्कार भी क्यों न बनाये तथापि उस अलङ्कार के सोने में तो अशुद्धता तो रहेगी ही। इसी प्रकार जनता में यदि भ्रष्टाचार आदि है तो अन्यान्य क्षेत्र में/कार्यकर्ताओं में भ्रष्टाचार होगा ही। क्या जनता भी अपना कर्तव्य सही रूप में करती है? क्या व्यक्ति, समाज सामाजिक-धार्मिक कार्यक्रम आदि में अनुशासन विहिनता, प्रदूषण, गंदगी, शोरशराबा आदि से लेकर अनैतिक रूप से शीघ्रता से अपना काम हो जाय इस दृष्टि से घूस नहीं देती है? इसका उत्तर मिलेगा कि अधिकांश नागरिक उपर्युक्त दोषों से हीनाधिक रूप से युक्त ही है।

**7) क्या है भ्रष्टाचारा ? :-** सामान्यतः भारत के लोग आर्थिक-अनैतिक कार्य को ही भ्रष्टाचार मानते हैं। परंतु यह तो भ्रष्टाचार का एक बहुत ही छोटा-सा रूप है। वस्तुतः भ्रष्ट+आचार ही भ्रष्टाचार है। आचरण में जो कुछ अनैतिक, अधार्मिक, अयोग्य व्यवहार है वे सब भ्रष्टाचार ही हैं। यथा-अनैतिक सोच-विचार, लेखन, भाषण, आचरण, लेन-देन, खान-पान, वेश-भूषा, यातायात, क्रय-विक्रय, उत्पादन-वितरण, विज्ञापन आदि-आदि। ये सब भ्रष्टाचार व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, राजनीति, व्यापार, कानून, शिक्षा, सामाजिक-सेवा, धार्मिक-संस्थागत कार्यक्रम आदि सब में जान लेना चाहिए। कर्तव्य बिना अधिकार को प्राप्त करना, स्वयं जो आचरण नहीं करते हैं वैसा आचरण दूसरों को बताना और दूसरों से चाहना, मर्यादाविहीन, शालीनता रहित, अयोग्य परिस्थिति एवं असमय में कार्य करना, गंदगी फैलाना, मिलावट करना, मुनाफाखोरी, सुदर्खोरी, ईर्ष्या-द्वेष-कलह-झगड़ा आदि सब भ्रष्टाचार ही है। उपर्युक्त समस्त भ्रष्टाचारों से रहित होने पर ही व्यक्ति से लेकर राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण संभव है।

## क्यों करते हैं लोग धर्म के लिए घोरतम अधर्म ?

धर्म कर्म निवर्ण संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ र. श्रावकाचार  
अर्थात् धर्म संसारी जीवों को समस्त मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक दुःखों के कारण भूत कर्मों को नाश करके अनंत सुख में धारण करता है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म के माध्यम से अधिदैविक, अधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तथा इहलोक, परलोक आदि के भय से निवृत्ति होती है एवं जीव को शाश्वतिक, अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक अनंत सुख प्राप्त होता है। कहा भी है -

यस्मात् अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।

जिससे स्वर्गादि का अभ्युदय सुख एवं निर्वाण रूपी परम सुख की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं। कहा है - “धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो” अर्थात् - धर्म सर्व प्रकार के सुख को देने वाला है, धर्म से ही निर्वाण अथवा मोक्ष सुख मिलता है। इसलिए है ! सुख इच्छुक भव्य जीवों ! धर्म को ही संचित करीए। धर्म को छोड़कर संसारी जीवों का कोई भी हित करने वाला नहीं है। धर्म का मूल दया है अर्थात् करुणा या अहिंसा है। धर्म में मैं अपने चित्त को प्रतिदिन लीन करता हूँ। हे जगत् उद्धारक ! सुख-शांतिप्रदायक ! धर्म मेरा पालन कीजिए ?

पवित्रं क्रियते येन येनैव श्रियते जगत् ।

नमस्तस्मै दयाद्वाय धर्मं कल्पादिघपाय वै ॥

जिससे जीव पवित्र हो जाता है और जो विश्व को धारण करता है, दया से आद्रे धर्म रूपी कल्पवृक्ष के चरण को मैं नमस्कार करता हूँ। अर्थात् धर्म से ही पतित जीव पावन हो सकता है, दानव मानव बन सकता है, मानव महामानव, भगवान् बन सकता है। यह संपूर्ण चराचर विश्व धर्म से आधारित है।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बांधवः ।

अनाथ वात्सल सोऽयं यः त्राता कारणं विना ॥

धर्म ही गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बंधु है, अनाथ का रक्षक है और बिना स्वार्थ के रक्षण करने वाला है।

धर्मो मङ्गल मुक्तिं अहिंसा संज्ञमो तवो ।

देवा वित्स्स पणमंति जस्स धर्मे सयामणो ॥

धर्म ही लोक में उत्कृष्ट मङ्गल है, अहिंसा धर्म है, संयम धर्म है एवं तप धर्म है। जिसका मन सर्वदा धर्म में लीन रहता है, उसको स्वर्ग के देव भी नमस्कार करते हैं।

बत्थु सहावो धम्मो, अहिंसा खमादि आद धम्मो ।

रयणत्तयं य धम्मो अणेयंत सुभावणा धम्मो ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य ये आत्म धर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र धर्म हैं। अनेकांत (स्याद्वाद), बारह भावना एवं मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव भी धर्म हैं। इस संक्षिप्त गाथा सूत्र में जो धर्म की विभिन्न परिभाषायें दी गयी हैं, शब्दतः पृथक्-पृथक् होते हुए भी भाव से एक ही है। इसमें प्रायः विश्व में प्रचलित संपूर्ण संप्रदाय की धर्मिक परिभाषायें गर्भित हैं। वस्तु-स्वभाव धर्म यह सामान्य परिभाषा है। चेतन-अचेतन द्रव्य में जो स्व-स्वभाव है, वही धर्म है, जैसे- पुद्गल का धर्म जडत्व एवं जीव का धर्म चेतनत्व है। इस गाथा में संम्पूर्ण परिभाषाएँ चेतन द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य का स्वभाव रूप धर्म की परिभाषाएँ हैं। उपर्युक्त धर्म से समस्त शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, भौतिक, सामाजिक सुख से लेकर आत्मोत्थ अनंत अक्षय आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि होती है, परंतु अमूर्तिक अनंत असीम आकाश को जिस प्रकार अधिकांशतः सामान्य व्यक्ति नीले रूप से गोलाकार ससीम देखते हैं, उसी प्रकार धर्म को भी अधिकांशतः सामान्य व्यक्ति संकीर्ण, मिथ्या, विकृत रूप से जानते हैं, मानते हैं, अपनाते हैं। प्राकृतिक ताजा अङ्गूर गुणकारी है परंतु विकृत होकर शराब बनने पर नशाकारी है। इसी प्रकार उपर्युक्त धर्म तो गुणकारी हैं परंतु विकृत धर्म अहितकारी है। यथा -

धर्म शब्द मात्रेण प्रायेण प्राणिनः अधमा ।

अधर्ममेव सेवन्ते विचार जडः चेतसः ॥

विचार में जड अधम प्राणी प्रायः धर्म शब्द से अधर्म का ही सेवन (विश्वास, आचरण) करते हैं।

धर्म के लिए या धर्म के नाम पर जो लोग विचित्र घोरतम अधर्म करते हैं उनमें से कतिपय कारणों का दिग्दर्शन निम्न में कर रहा हूँ। विशेष जिज्ञासु मेरी (आ.कनकनंदी)

1) धर्म दर्शन एवं विज्ञान 2) नम सत्य का दिग्दर्शन आदि कृतियों का अध्ययन करें।

1) धार्मिक अंधश्रद्धा :-

मिच्छत्तं वेदन्तो जीवो विवरीय दंसणो होदि ।

ण य धर्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ 17 गो. जीव.

मिथ्यात्व का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान्/अंधभक्ति/धर्मान्धता/अंधश्रद्धान् वाला होता है। जैसे पित्तज्वर से युक्त जीव को मधुर रस भी रुचिकर नहीं होता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि को यथार्थ धर्म रुचिकर नहीं होता है।

मिच्छाइड्डी जीवो उपइड्ड पवयणं ण सदहदि ।

सदहदि असब्बावं उवइड्डं वा अणुवइड्डं ॥ 18 गो. जीव

मिथ्यादृष्टि जीव नियम से सच्चे धर्म प्रचारकों के द्वारा प्रतिपादित प्रवचन/उपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता है किंतु किसी के द्वारा कहा हुआ या नहीं कहा हुआ भी असद्बाव/मिथ्या/अयथार्थ का श्रद्धान करता है ।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है । क्योंकि सुख जीव का स्वभाव होने से सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है । क्योंकि स्वभावानुकूल प्रवृत्ति होना प्राकृतिक है, सहज है । धार्मिक दृष्टि से कहें तो धर्म का स्वरूप, उपाय, प्राप्य भी सुख है - ऐसा ही प्रत्येक धर्म में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में पाया जाता है । परंतु जिस जीव का विश्वास, ज्ञान, उपर्युक्त वर्णनानुसार मिथ्या होता है उसका आचरण भी तदनुकूल होता है अर्थात् मिथ्या होता है । ऐसे जीव स्वर्ग-मोक्ष या इहलोक संबंधी विभिन्न सुख के लिए या ईश्वर, अल्लाह, गॉड, भगवान्, देवी-देवता, पितर, भूत-प्रेत आदि को संतुष्ट/प्रसन्न करने के लिए पशु बलि, नर बलि चढ़ाते हैं, दूसरे धर्मावलम्बियों को विधर्मी, अधर्मी, कुधर्मी, धर्म बाह्य, नास्तिक मानकर उनसे ईर्ष्या-द्वेष, भेद-भाव रखते हैं । उन्हें स्व-धर्म में परिवर्तित करने के लिए साम-दाम-दंड-भेद-प्रलोभन, दबाव, पीड़ा, हत्या, बलात्कार, युद्ध, शोषण, आतङ्कवाद, विघ्वंस आदि अनैतिक क्रूर, घोर अधार्मिक पापात्मक कार्य करते हैं । परंतु ऐसे जडमती, अंधश्रद्धानी, अज्ञानी, संकीर्ण सोचवाले क्रूर, निर्दयी, नराधर्मों को विवेक नहीं होता कि ऐसे हिंसात्मक, दुःखप्रद, अधार्मिक कार्यों से कैसे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त होंगे, भगवान् कैसे प्रसन्न होंगे ? क्या स्वर्ग-मोक्ष कोई हिंसादि के फल/परिणाम है? क्या भगवान् आदि ऐसे अधार्मिक के समान अज्ञानी-क्रूर हैं ? ऐसे अज्ञानी-क्रूरों के कार्य से प्रसन्न होंगे या प्रसन्न होकर स्वर्ग-मोक्ष या वैभव, सुख-शांति-सफलता प्रदान करेंगे ।

2) संकीर्ण स्वार्थ :- कुछ संकीर्ण स्वार्थी मानव अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्म के नाम पर /धर्म के आड में अनेकानेक अनैतिक, अधार्मिक कार्य करते हैं । कुछ तो अपने धर्म/पंथ/मत/परंपरा के बाह्य वेश-भूषा, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, पर्व-त्यौहार, तीर्थयात्रा, दान-पुण्य, तीर्थक्षेत्र, धर्माराधनस्थल-चिन्ह, धार्मिक व्यक्ति, मूर्ति के माध्यम से सत्ता, संपत्ति, प्रसिद्धि, शोषण, भेद-भाव, ऊँच-नीच, लडाई-झगड़ा करते हैं । कुछ तो इसके माध्यम से अश्लीलता, नशीली वस्तु, अस्त्र-शस्त्र, व्यभिचारदि के माध्यम से अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं । कुछ तो इसके माध्यम से उसके कुछ अनुयायी/समर्थक को संगठित करके दूसरे पंथ/मत, राज्य, धन-जन के ऊपर अनैतिक, क्रूरतापूर्ण अतिक्रमण/आक्रमण/युद्ध, लूट-फूट करके सत्ता-संपत्ति, प्रसिद्धि आदि अपनी क्षुद्र-

स्वार्थ की सिद्धि करते हैं । अधिकांशतः छद्म धर्म युद्ध-धर्म विस्तार-धार्मिक राज्य-धार्मिकस्थल, संगठन आदि संकीर्ण स्वार्थ के ही साम्राज्य/फल है ।

3) डर से भयभीत :- कुछ लोग धर्म के लिए “धार्मिक अंधश्रद्धा” बिंदु में वर्णित पशु-बलि आदि अधार्मिक कार्य करते हैं । वे सोचते हैं पशु-बलि आदि कार्य धर्म के लिए नहीं करेंगे तो भगवानादि अप्रसन्न/क्रूर/नाराज होकर विभिन्न कष्ट देंगे तथा मनोकामना पूर्ण नहीं करेंगे । धार्मिक अंधश्रद्धा से ग्रसित होकर, प्रेरित होकर, डर से भयभीत होकर वे विवेक, नैतिकता, धर्म को त्यागकर घोरतम अधर्म करते हैं ।

4) परम्पराओं का पालन :- अंध परंपरा को समझाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ । एक धोबी अपना एक गधा को वह कुछ दिन तक एक खूटे में रस्सी से बांधता रहा । वह गधा शाम को आकर उसी खूटा के पास ही खड़ा हो जाता था । बाद में वह धोबी केवल बांधने का अभिनय करता था । सुबह जब तक वह धोबी खोलने का नाटक नहीं करता था तब तक वह गधा स्वयं को बंधा हुआ मानकर वहाँ से नहीं हटता था भले उसे भूख-प्यास क्यों न लगे । भेड़चाल तो लोक प्रसिद्ध है ही कि एक भेड़ जिधर चलता है अन्य भेड़ उसके पीछे-पीछे चलते रहते हैं । यदि आगे का एक भेड़ गड्ढे में गिर जाता है तो भी पीछे के भेड़ सावधान नहीं होते हैं, दूसरा सुरक्षित रास्ता नहीं देखते हैं । परंतु वे भी गड्ढे में गिरते जाते हैं । इसी प्रकार अंध परंपरावादी धार्मिक भेड़चाल वाले व्यक्तियों की दशा होती है ।

एक बार एक शादी में एक बिल्ली विवाह मंडप में बार-बार आकर उत्पात मचाने के कारण वर की माता ने बिल्ली को मण्डप के एक खम्भे में बांध दिया । शादी निर्विघ्न पूर्ण हुई । 24-25 वर्षों के बाद उसके बेटे की शादी थी । सप्त फेरों का समय आने पर पंडित ने इस कार्य के लिए वर-वधु को शीघ्र लाने के लिए कहा । तब बेटे की माँ (पूर्व की वधु) कहती है पंडित जी कुछ समय प्रतिक्षा कीजिए । क्योंकि अभी एक बिल्ली को ढूँढ़ कर ला रहे हैं । बिल्ली को लाकर मंडप में बांधने के बाद फेरो का कार्य प्रारंभ करना । क्योंकि हमारे परिवार की यह परंपरा है । मेरी शादी के समय भी मेरी सास ने ऐसा ही किया था । इसी प्रकार अनेक लोग धार्मिक परंपराओं का मूल स्वरूप/उद्देश्य से विचलित या विकृत अथवा विपरीत रूप में पालन करते हैं । इसलिए कहा है - “गतानुगतिक लोकः न लोकः पारमार्थिकः ।” अर्थात् लोक परमार्थिक सत्य-तथ्य से रहित होकर लकीर के फकीर होकर दूसरों की देखा-देखी से धर्म-परंपराओं का पालन करते हैं । वे केवल ऐसी परंपराओं के पालन को ही धर्म मानकर पूर्वोक्त धर्म के नाम पर घोरतम अधर्म करते हैं । ऐसी मिथ्या, थोती परंपराओं को त्याग, परिमार्जन अथवा परिवर्तन करने को अनेक लोग धर्मभ्रष्ट, धर्मद्रोह, धर्म में शिथिलता अथवा

ईश्वर की आज्ञा का उल्लङ्घन मानते हैं।

5) बाह्याभ्युक्त या दिक्षावा : - कुछ लोग स्वयं को केवल बाहर से दूसरों से श्रेष्ठ धार्मिक या प्रभावशाली/धनी आदि सिद्ध करने के लिए भी धर्म करते हैं। कुछ तो बाह्य से धर्म इसलिए करते हैं जिससे अपनी अधार्मिक प्रवृत्ति छिपी रहे। जिसे 'बगुला भगत' 'गोमुख व्याघ्र' 'सौ सौ चुहे खाकर बिल्ली हज/तीर्थयात्रा करने निकली' कहते हैं। यह कार्य सामान्य व्यक्ति से लेकर बाह्य वेश धारी साधु-संत, राजा-महाराजा, सेठ-साहुकार, नेता-अभिनेता करते हैं।

जो धर्म सुख-शांति स्वरूप है, उसके फल स्वरूप है तथापि उपर्युक्त कारणों से प्रायोगिक रूप से धर्म दुःख-अशांति स्वरूप अधिक बना है। इसलिए इस लेख में मैंने (आ.कनकनंदी) निष्पक्ष दृष्टि से धर्म, धार्मिक, धर्म के पालन की समीक्षा की है जिससे विवेकी व्यक्ति हंस के समान सच्चाई को एवं अच्छाई को ग्रहण करें।



आचार्य श्री कनकनंदी संसंघ के पिछ्छी परिवर्तन, विदाई समारोह एवं सम्मान समारोह का एक दृश्य (नरसिंहपुरा नोहरा) उदयपुर शहर-2005

## मोही अन्य के कारण दुःखों को वरण करता है किंतु निर्मोही नहीं।

मोह महामद है। जिस प्रकार मद्यपान करने से जीव मोहित/विभ्रमित होकर विवेकहीन होकर अकरणीय को भी करणीय मानकर उसे करता है; अकथनीय को भी कथनीय मान करके कथन करता है; अभक्ष्य को भी भक्ष्य मानकर भक्षण करता है; उसीप्रकार या उससे भी अधिक मोह के कारण जीव अयोग्य चिंतन, अयोग्य वचन-व्यवहार करता है। यह सब करते हुए भी वह स्वयं को सच्चा आदर्श एवं अच्छा मानता है तथा दूसरों को जो सच्चे एवं अच्छे भी हैं उन्हें भी गलत मानता है। मद्यपायी जिस प्रकार स्वयं श्रम करके एवं धन देकर के मद्य पीता है और उसके कारण उसे सामाजिक/आर्थिक/शारीरिक/मानसिक/पारिवारिक हानि भी उठानी पड़ती है तथापि मद्य पीना छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार मोही जीव स्वयं के लिए दुःखकारक भाव-वचन-प्रयोग एवं व्यवहार करता है। जब तक वह नशा से मदमस्त रहता है तब तक दूसरों के हितकारी उपदेश, व्यवहार भी उसे गलत लगता है। जिस प्रकार निद्रा में या स्वप्न अवस्था में निद्रा रहित अवस्था के विचार एवं व्यवहार तथा स्वप्न रहित अवस्था के विचार-व्यवहार नहीं होते हैं उसी प्रकार मोह अवस्था में मोह रहित अवस्था के विचार एवं व्यवहार नहीं होते हैं। इसलिए कहा है - “सद्गुरु देय जगाय मोह नींद जब उपशमे तब कछु बने उपाय कर्म चोर आवत रुके।” अर्थात् सत्गुरु का भी हितकारी वचन एवं व्यवहार तब कार्यकारी होते हैं, जब मोह अवस्था कुछ दूर होती है।

मोहेन संवृत्तं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।

मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदन कोद्रवैः ॥ 7

जब ज्ञान मोहनीय कर्मके विपाक से आविर्भूत हो जाता है तब वह ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ प्रकाशन करने में असमर्थ हो जाता है। शुद्ध स्वरूप से ज्ञान कदाचित् आत्मा से अभिन्न नहीं है और वस्तु स्वरूप को यथार्थ से जानने के लिए पूर्ण समर्थ है परंतु कर्म परवशता के कारण ज्ञान में, आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है। कहा भी है- जिस प्रकार मल से आबद्ध मणि एक प्रकार का नहीं होता है, एक प्रकार प्रकाश नहीं देता है उसी प्रकार कर्म से आबद्ध आत्मा भी एक प्रकार का नहीं होता है और एक प्रकार का नहीं जानता है।

नशे को पैदा करने वाले कोद्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट-पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार

कर्म बद्ध आत्मा पदार्थ के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिंगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तीमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब सकते हैं।

**समीक्षा-** सत्य से विपरीत मान्यता/श्रद्धा/प्रतीति/विश्वास रूप परिणाम व भावों को मोह/मिथ्यात्व कहते हैं। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतशरणी देव करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने दिव्यध्वनि मूलक उस परम सत्यका प्रमाण, नय, निक्षेपों द्वारा प्रतिपादन किया है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात् जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्त्व, पदार्थों में विश्वास नहीं करता, श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धा रूप दृष्टि विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो हादि ।

३० य धर्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ 17 ॥

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है अपितु अनेकांतत्मक, धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसंद नहीं करता।

पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे-दूध रसादि को पसंद नहीं करता उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता है।

इंद्रिय विसय सुहादिसु मूढमदी रमदि न लहदि तत्त्वं ।

बहुदुखमिदि ण चिंतदि सो चेव हवदि बहिरप्पा ॥ 129 ॥ रथणसार

जो मूढमति इंद्रिय जनित सुख में रमण करता हुआ उसको सुख मानता है, बहु दुःखप्रद नहीं मानता है, वह आत्म तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व संशित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयमेव विपरीत भाव होता है उसे निर्सार्व व अगृहित मिथ्यात्व कहते हैं, जो कुगुरु के उपदेश से विपरीत भाव होते हैं उसे अधिगम व गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्था में वस्तुभाव तथा अर्धमें धर्म भाव, कुगुरु में गुरु भाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव को धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहीमुख होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। बाह्य-भौतिक हानि-वृद्धि में अपनी हानि-वृद्धि मानकर सुखी-दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य-भाव से दो प्रकार, एकांत, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान की

अपेक्षा पांच प्रकार भी होता है।

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ 81 ॥

स्व-पर विवेकहीन मूढ मोही जीव शरीर, धन, घर, स्त्री, पुत्र, मित्र यहाँ तक की शत्रु को भी जो कि सर्वथा स्वयं से भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। सर्वथा सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से जो स्व-स्वरूप से अन्य है, भिन्न है ऐसे परद्रव्य को भी दृढ़तर मोह से आविष्ट जीव अपना मान लेता है। शरीर जो कि अचेतन परमाणुओं से (रक्त, मांस, हड्डी, चर्मादि) निर्मित होने के कारण अचेतन स्वरूप है उसे भी अपना मान लेता है। इसी प्रकार घर, धन जो कि स्पष्ट रूप से भौतिक जड वस्तु से निर्मित है उसे भी अपना मान लेता है। भार्या, पुत्र, मित्र तथा शत्रु जो कि शारीरिक दृष्टि से तथा आत्मिक दृष्टि से भी भिन्न है, उसे भी अपना मान लेता है। यहाँ पर शरीर आदि को भी हितकारी मानता है और शत्रु आदि को भी मेरा अहितकारी मानकर उसमें भी मेरा शत्रु है ऐसा अपनापन रखता है।

**समीक्षा-** शुद्ध निश्चय नय से स्व-शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ही स्व-चतुष्य है और इससे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है, पर है तथापि मोही जीव मोह के कारण पर आत्म को स्व-स्वरूप मान लेता है, जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती हो, इंद्रियजनित सुख मिलता हो उसको अपना हितकारी मानकर अपना मानता है और राग करता है तथा जिससे स्वार्थ सिद्धि नहीं होती है, इंद्रिय जनित सुख नहीं मिलता हो उसको अपकारी मानकर उससे द्वेष करता है। एक के प्रति रागात्मक संबंध है तो दूसरों के प्रति द्वेषात्मक संबंध है। मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म के कारण श्रद्धारूपसे तथा आचरण रूपसे शरीर आदि पर वस्तु में मोह करता है परंतु सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा रूपसे परद्रव्य को पर मानते हुए भी जबतक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक वह पर द्रव्य को व्यवहार रूप से, आचरण रूप से अपना मानता है।

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति ।

त्र्यंगुलं पातयत्पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ 10 ॥

अपकार करने वालों के ऊपर व्यक्ति प्रकोपित होते हैं। वे नहीं जानते हैं कि जो जिस प्रकार सुख या दुःख प्राप्त करता है वह उसके द्वारा पूर्व में किया हुआ स्व-कर्म का प्रतिफल है न कि दूसरों के सुख-दुःख का प्रतिफल है। जो जैसा करता है वह वैसा ही प्राप्त करता है। यह मार्ग सुनिश्चित है।

मिठी खोदने के लिए त्रांगुरा एक यंत्र होता है जो मिठी खोदने के लिए इस

अस्त्र का प्रयोग करता है वह उस अस्त्र के साथ-साथ स्वयं भी नीचे जाता है।  
 समीक्षा - अज्ञानी मोही जीव दूसरे अपकारी व्यक्तियों को अपना शत्रु मान लेता है। शत्रु मानकर उन्हें कष्ट देता है परंतु उसे ज्ञान नहीं कि जो कुछ कष्ट शत्रु के द्वारा उसे मिल रहा है वह कष्ट उसके द्वारा ही पूर्व निर्मित है। उसने जो पूर्व भव में दूसरों को कष्ट दिया था वही कष्ट आज परिवर्तन रूप में उस शत्रु के माध्यम से उसे मिल रहा है। यदि वह पूर्व में दूसरों को कष्ट नहीं देता तो उसे भी कोई कष्ट देने में समर्थ नहीं होता।

स्वयं कृतं कर्मयदात्मना पुरा । फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ॥

whatever karmas you have performed previously  
you experience their fruits, whether good or evil.

इस जीव ने पूर्व में जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसके फल-स्वरूप वह पुरुषार्थ का परिपाक रूप शुभ-अशुभ रूप भाग्य का उपभोग करता है। अर्थात् भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य के भाग्य रूप से परिनमण करता है, जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज की तरह। यथा - “जैसे बोआओगे वैसा पाओगे” "As we sow, So we reap."

जीव जो कुछ अच्छे या बुरे विचार, कथन या व्यवहार दूसरों के लिए भी करता है उसका फल दूसरों को मिले या नहीं मिले परंतु स्वयं को अवश्य मिलेगा ही। जिस प्रकार दूसरों को चंदन या किंचड से लिप्त करने के लिए हाथ में चंदन या किंचड लेता है तो पहले उसका हाथ उससे लिप्त होगा ही भले जिसके लिए वह चंदन या किंचड लिया वह लिप्त हो या न हो। इसी प्रकार जीव जब दूसरों को किसी भी कारण से अपमानित करने के लिए कष्ट देने के लिए, मारने के लिए या हत्या करने के लिए सोचता है या योजना बनाता है अथवा कथन करता है, क्रियान्वयन करता है तो उस समय में अनंतानंत कर्म परमाणु पाप रूप में परिणमन करके उसके संपूर्ण असंख्यात आत्म प्रदेश में बंध जाते हैं। वही कर्म उसे यथायोग्य इहलोक-परलोक में दीर्घकाल तक कष्ट देता रहता है। जिस प्रकार पूर्वभव में श्रीपाल ने निर्दोष दिग्म्बर जैन साधु को कोढ़ी-कोढ़ी बोलकर अपमानित किया एवं उनके 700 सैनिकों ने भी श्रीपाल की अनुमोदना की जिसके कारण अगले भव में श्रीपाल को गलित कुष्ठ और अनुमोदना करने वाले 700 सैनिकों को भी गलित कुष्ठ रोग हुआ परंतु जिनका अपमान इन लोगों ने किया उनका इस कारण से कुछ भी बिगड़ नहीं हुआ। इसी प्रकार श्रीपाल जब एक साधु को डुबाने के लिए समुद्र में गिराया एवं पुनः दया से वापिस समुद्र से निकाल दिया उसके फलस्वरूप अगले भव में धबल सेठ के द्वारा श्रीपाल को समुद्र में गिराया गया परंतु मुनिको समुद्र से निकालने के कारण वह भी समुद्र को पार करके सुरक्षित जीवित बच गया। जिस प्रकार कोई स्वच्छ समतल दर्पण के सामने हँसता है, रोता

है, मुँह बिगड़ता है तो उसी प्रकार प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखाई देता है। इससे दर्पण का कुछ बिगड़ता नहीं है। इसी प्रकार जीव के हर अच्छे या बुरे विचार-व्यवहार, कथन का प्रभाव मुख्यता से स्वयं के ऊपर पड़ता है। यदि दूसरे उसके अनुसार सोच-विचार-कथन करते हैं तो उसका फल वे प्राप्त करेंगे अन्यथा नहीं। इसलिए कभी भी सचित हो या अचित हो या मिश्र द्रव्यों को लेकर मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, धृणा, लडाई-झगड़ा आदि नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे स्वयं को ही इहलोक-परलोक में शारीरिक, मानसिक-आध्यात्मिक दुःख होते हैं। हर समय में, हर द्रव्यों के लिए समता, सहिष्णुता भाव रखना ही आत्मकल्याण का मार्ग है तो दूसरों के कारण ईर्ष्या, द्वेष, धृणा आदि करना स्वयं के लिए दुःखों को वरण करना है।

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् ।

अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ 45 इषोपदेश

पर देह, धनादि पर ही है। उसे कभी भी आत्मा का, स्वयं का नहीं कर सकते हैं। इसलिए उसमें आत्मा का आरोपण करना दुःखों को निमंत्रण देना है। क्योंकि वे पर द्रव्य दुःखों के द्वार हैं, दुःखों के निमित्त हैं। उसी प्रकार आत्मा आत्मा का ही है। उसे कभी भी देहादि रूप में परिणमन नहीं कर सकते हैं अथवा आत्मा देहादि का उपादान नहीं है। इसलिए सुख-दुःख आत्मा के अविषय है। इसके लिए ही तीर्थङ्करादि महात्मा आत्मा के निमित्त तपानुष्ठान रूपी उद्योग किए हैं।

समीक्षा - आचार्य श्री ने इस श्लोक में सुख का आधार तथा उसे प्राप्त करने का संक्षिप्त किंतु सार गर्भित उपाय बताया है। उन्होंने यह बताया कि दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है तथा सुख दूसरों से प्राप्त नहीं होता है वरन् दुःख परका स्वभाव है तथा सुख स्व-स्वभाव है। जो सुख के लिए दूसरों को/अनात्म स्वरूप को अपनाता है वह सुख के परिवर्तन में दुःखों को गले लगाता है। इसके विपरीत जो पर संयोग को त्याग करके आत्मा का ही आश्रय, आलम्बन लेता है वह सुख को प्राप्त करता है। इसका रहस्य यह है कि शुद्ध स्वतंत्र आत्मा का स्वरूप ही अक्षय-अनंत सुख स्वरूप है तथा शरीरादि पौद्धलिक द्रव्य है जिसमें सुख का सर्वथा अभाव है। उसको स्वीकार रूप में जो मोह, राग है वह दुःख के निमित्त है। क्योंकि उसके कारण जो कर्म बंध होता है, उससे आत्मा परतंत्र हो जाता है और सुखादि गुण भी दुःख रूपमें परिणमन कर लेते हैं परंतु भेद विज्ञान तथा भेद क्रिया रूप वीतराग चारित्र से पर संबंध रूप बंधन कट जाता है तब आत्मा के सुखादि गुण प्रगट हो जाते हैं इसे ही स्वतंत्रता/निःसञ्ज्ञत्व/स्वाधीन/मोक्ष कहते हैं।

अविद्वान् पुद्रलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।

न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुश्चति ॥ 46

जो हेय उपादेय तत्व में अनभिज्ञ हैं ऐसे अविद्वान् देहादिक पुद्रल द्रव्य को

स्व-आत्मा स्वरूप से श्रद्धान करता है, अभिनंदन करता है तब उस जीव को नरकादि गति को प्राप्त कराने योग्य पुद्गल द्रव्य उसका सामीप्य नहीं छोड़ता है।

**समीक्षा -** यहाँ पर आचार्य श्री ने नाटकीय एवं साहित्यिक पद्धति से कर्म सिद्धान्त को प्रतिपादन किया है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार जीव मोही होकर अज्ञान भाव से राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्म का आस्रव करता है और बंध करता है और वह कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश रूप में बंधकर जीव के साथ रहता है और विभिन्न प्रकार के सुख-दुःखादि को देता रहता है। जब तक जीव को वह फल नहीं देता है तब तक वह जीव से पृथक् नहीं होता है। इस अवस्था को स्थिति बंध कहते हैं। स्थिति बंध पूर्ण होने के बाद जब कर्म फल देता है उसे उदय कहते हैं।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं ।

मंसवसारुहिरादिभावे उदयरग्नि संजुत्तो ॥

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ, अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों के रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके आठ प्रकार के अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

भोजन से पहले खाद्य सामग्री रोटी, भात, दाल आदि रूप में रहती है। भोजन करने से वही खाद्य सामग्री खाने वालेके चर्वण, लार, पाचन शक्ति आदि के निमित्त से रस, रुधिर, मांस, मेद (चबी), अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज आदि रूप परिणमन हो जाती है। इसी प्रकार कर्मवर्गणा जबतक जीवके योग और उपयोग का निमित्त प्राप्त करके आस्रव एवं बंधरूप परिणमन नहीं करता है तब तक वह वर्गणा केवल भौतिक पुद्गल स्वरूप ही रहती है। जीवके योग एवं उपयोग को प्राप्त करके वही कर्मवर्गणा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्मरूप से परिणमन कर लेती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करने से पहले कर्म वर्गणा जड रूप में रहती है एवं योग-उपयोग रूपी जीव के शुभाशुभ निमित्त को प्राप्त करके दैव रूप में परिणमन कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दैव भी पुरुषार्थ से जायमान/उत्पन्न है। जैसे अण्डा से पक्षी। उसी प्रकार शुभाशुभ पुरुषार्थ भी पूर्वजित दैव के कारण होता है। इसलिए कथधित् पुरुषार्थ भी दैव से जायमान है। जैसे अण्डा से पक्षी जायमान है और पक्षी से अण्डा जायमान है। जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है। उसी प्रकार कर्म (दैव) से पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीवके दैव एवं पुरुषार्थ की परम्परा अनादि अनंत होते हुए भी मोक्ष जानेवाले भव्यों की यह परंपरा अनादि सांत है।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थितेः ।

जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ 47

देहादि से निवृत्त होकर जो स्व-आत्मा में ही लीन होकर प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार से दूर होकर ध्यान करता है ऐसे योगी को स्व-आत्मा ध्यान से एक अनिर्वचनीय परमानंद उत्पन्न होता है जो आनंद अन्य में असंभव है।

**समीक्षा -** प्रत्येक आत्मा अनंत अक्षय-ज्ञान-घन या परमानंद स्वरूप है परंतु जिस प्रकार घने बादलों के कारण सूर्य रश्मि प्रकट नहीं होती है उसी प्रकार घने कर्मके कारण राग-द्वेष-संकल्प-विकल्प के कारण वह स्वभाव लुप्त प्रायः है। तथापि जिस प्रकार बादल हटने पर, घटने पर सूर्य रश्मि प्रगट हो जाती है उसी प्रकार साधना के बल पर कर्मादि क्षीण होने पर, विलीन होने पर स्व में निहित आनंद प्रकट हो जाता है। यह आनंद जीव का स्वाभाविक गुण या आनंद है। इस आनंद को प्राप्त योगी के लिए संसार के समस्त सुख, वैभव तुच्छ प्रायः प्रतिभासित होता है, दुःख रूप में दिखाई देता है। इसे ही सच्चिदानंद, आत्मानंद, परमानंद, अनंत सुख, अलौकिक आनंद, इंद्रियातीत आनंद, ब्रह्मानंद आदि नाम से अभिहित किया जाता है। इस आनंद को ही प्राप्त करने के लिए समस्त धार्मिक विधियाँ की जाती हैं। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि भी इस आनंद को प्राप्त करने के लिए समस्त वैभव त्यागकर सर्व संन्यास लेकर ध्यान करते हैं। हर संप्रदाय के महापुरुष साधु-संत इस आनंद को प्राप्त करने के लिए साधना तथा ध्यानरत रहते हैं। हिंदू धर्म के अनुसार महर्षि कपिल, पातञ्जली यहाँ तक कि हिंदू धर्म के सर्वश्रेष्ठ देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी इस आनंद को प्राप्त करने के लिए समस्त कार्यकलाप, गतिविधियों को छोड़कर ध्यान लीन रहते हैं। जैन धर्मानुसार शांतिनाथ, कुथुनाथ, अरहनाथ जो स्वयं गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती, कामदेव थे तथा जिनके दो कल्याणक हो गये थे और तीन ज्ञान के धारी थे वे भी इस परमानंद को प्राप्त करने के लिए समस्त वैभव त्यागकर, साधु बनकर आत्म ध्यान में लीन हो गए।

मोहासक्त जीव भले किसी भी गति में किसी भी कार्य क्षेत्र में, किसी भी धर्म-पंथ में क्यों न हो वह उपर्युक्त भाव एवं व्यवहार से रहित होकर कार्य करता है। कभी मोही धन-संपत्ति, वैभव, राज्य आदि अचित्त द्रव्यों के लिए तो कभी स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शत्रु राष्ट्र, अन्य धर्माक्लम्बी, अन्य राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वी आदि के लिए क्रोध-मान-मायालोभ, ईर्ष्या, द्वेष, धृणा, युद्धादि करके पाप सञ्चय करता है और दुःखी होता है। जिस प्रकार व्यक्ति स्वयं विषपान करके मरता है विष स्वेच्छा से उसके शरीर में प्रवेश करके नहीं मारता है उसी प्रकार जीव स्वेच्छा से स्वभाव को दूसरे के कारण दूषित कलुषित, तनावयुक्त करके पापबंध करता है, मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक रूप से रुण हो जाता है और इहलोक-परलोक में दुःखी होता रहता है। इसलिए निर्मोही, विवेकी, ज्ञानी-महान् व्यक्ति कोई भी ऐसे विचार-व्यवहार नहीं करता हैं जो स्व-आत्मा को क्षति, दुःख पहुँचे। वे स्व-

आत्मा की निर्वलता, पवित्रता से युक्त होकर ही दूसरों के लिए सोचते हैं।

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।

उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ 32

हे भव्य ! अविद्या अर्थात् मोह के कराण जो तुमने देहादि पर द्रव्यों का उपकार किया हैं अभि विद्या के बल पर उस परोपकार को त्याग करके आत्मानुग्रह प्रधान बनो । शरीर आदि पर द्रव्य हैं, क्योंकि शरीर पुङ्गल से निर्मित है । जिस प्रकार कि लोक में अज्ञान अवस्था में लोग दूसरों के उपकार करते हैं, परंतु ज्ञान होने के बाद दूसरों का उपकार त्याग करके स्व का उपकार करते हैं ।

**समीक्षा -** इस श्लोक में आचार्य श्री ने लौकिक उदाहरण देकर यह समझाया कि जिस प्रकार लोक में बिना जाने शत्रु का भी उपकार कर लेते हैं परंतु जब पता चल जाता है कि ये मेरा शत्रु है तब उस का उपकार छोड़कर आत्म-उपकार करते हैं, उसी प्रकार शरीर, धन-संपत्ति आदि जो परद्रव्य हैं उसको मोही जीव अपना मानकर उसका संरक्षण-संवर्धन करता है, परंतु स्व-आत्म द्रव्य को न जानता है, न मानता है, न उसका उपकार करता है । इसलिए दयालु परोपकारी आचार्य गुरुदेव भव्य को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे भव्य ! तुम अनादिकाल से मोह से मोहित होकर स्व-उपकार को भूलकर दूसरों के उपकार में ही लगे हुए हो । तुम अभी तक धोबी का काम, गधे का काम, गुलामी का काम करते आ रहे हो । जिस प्रकार धोबी दूसरों के गोदे कपडे धोता रहता है उसी प्रकार तुम भी दूसरों की गलती को देखकर उसको दूर करने में लगे हुए हो परंतु स्वयं की गलती का भान तक तुम्हें नहीं है । जिस प्रकार गधा दूसरों का बोझ ढोता है उसी प्रकार तुम भी शरीर का, कुटुम्ब का, धन का, अभिमान का बोझ ढो रहे हो । गधा अपने पीठ पर चंदन की लकड़ी का भार केवल ढोता रहता है परंतु चंदन की सुगंधी तथा शीतलता का अनुभव नहीं करता है । इसी प्रकार जीव-शरीर, संपत्ति, कुटुम्ब का भार ढोता रहता है परंतु आत्मा का आनंद अनुभव नहीं करता है । वह उस भार को ही अपना सर्वस्व, गौरव, बड़प्पन मान लेता है । जो अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि से धन कमाता है उस धन के कारण वह स्वयं को बड़ा मान लेता है और दूसरे लोग भी उसको बड़ा मान लेते हैं । गुलाम जिस प्रकार मालिक के आधीन होकर उसके निर्देश के अनुसार दीन-हीन होकर मालिक की सेवा करता है, उसी प्रकार मोही जीव शरीर, कुटुम्ब, धन, संपत्ति तथा राग-द्वेष के गुलाम बनकर उसकी नौकरी करता है और यह सब करता हुआ भी स्वयं को श्रेष्ठ मान लेता है । जो ज्ञान वैराग्य से संपन्न होकर परिवार तथा वैभवादि त्यागकर स्व-आत्मकल्याण करना चाहता है, उसे भी ऐसे मोही जीव - दीन-हीन, असहाय, गरीब मान लेता है । इसलिए आचार्य श्री ने यहाँ कहा कि हे मोही ! तुमने अनंत संसार में दूसरों के लिए इतना रोया, इतना आंसु बहाया कि यदि उस आंसु को

इकट्ठा किया जाये तो अनेक समुद्र की जल राशि से अधिक हो जायेगा, अनंत बार तुम दूसरों के गुलाम, भाई, पिता, पुत्र, स्त्री आदि बने और दूसरे भी (तुम्हारे अनंत बार बने) । इन सब के उपकार के लिए तुमने जितना परिश्रम किया उसका अनंतवा भाग भी स्वोपकार में लगाओगे तो तुम तीनलोक के स्वामी अर्थात् सिद्ध भगवान् बन जाओगे । इसलिए कुंदकुंदाचार्य देव ने कहा है - 'आद हिंदं कादव्यं' अर्थात् आत्महित अच्छी तरह से, समग्रता से करना चाहिए ।

**मोही एवं निर्मोही के आव एवं व्यवहार में अंतर के कुछ उदाहरण**

1) मोही खाने के लिए या जीने के लिए भक्ष-अभक्ष, शुद्ध-अशुद्ध, राजसिक-तामसिक-अस्वास्थ्यकर भी न्याय से प्राप्त या अन्याय से प्राप्त, दूसरों को क्षति पहुँचाकर या हत्या करके भी खाता है जब कि निर्मोही इससे विपरीत स्व-पर कल्याण के लिए भक्ष, शुद्ध, सात्त्विक, न्याय से प्राप्त, दूसरों को क्षति पहुँचाए बिना योग्य समय में हित-मित भोजन करता है । दोनों में भोजन क्रिया की अपेक्षा समान होते हुए भी साधन-साध्य, कारण-परिणाम में महत् अंतर है । मोही भोजन के कारण केवल दूसरों को ही दुःख नहीं पहुँचाता है परंतु इससे वह स्वयं को इहलोक-परलोक संबंधी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक दुःख पहुँचाता है । क्योंकि अभक्ष आदि भोजन से विभिन्न रोग होते हैं, पापबंध होते हैं । इससे सिद्ध होता है कि मोही अन्य (भोजन) के कारण दुःखों को वरण करता है ।

2) मोही धन, संपत्ति, राज्य, वैभव आदि को प्राप्त करने के लिए अन्याय, अत्याचार, पापाचार, शोषण, चोरी, डैकैती, मिलावट, हत्या, युद्ध आदि करता है । उसकी प्राप्ति होनेपर अहंकार, फैशन-व्यसन, भोग-विलास में डूब जाता है, उसकी सुरक्षा, समृद्धि के लिए भी चिंता से लेकर हत्या, युद्ध तक करता है, इसकी क्षति होने पर भी चिंता से लेकर हत्या, युद्ध के साथ-साथ आत्महत्या भी कर लेता है । किंतु निर्मोही गृहस्थाश्रमी है तो न्याय से धनादि उपार्जन करेगा, उपार्जित धनादि का दानादि में सदुपयोग करेगा 'जलते भिन्न कमल' के समान रहेगा, राग-द्वेष-मोह-मद-युद्ध, हत्यादि नहीं करेगा, सतत दान के साथ-साथ सर्व त्याग की भावना भायेगा और अंत में इस भव में हो या परभव में अवश्य सर्वत्याग करेगा । निर्मोही साधु है तो धनादि के प्रति केवल नवकोटी से निर्लिप्त नहीं रहेगा परंतु भविष्य के लिए भी कामना नहीं करेगा, धनवान् को ही धार्मिक नहीं मानेगा बल्कि कथथित उन्हें परिग्रहधारी/पापी मानेगा । साधु वेशधारी मोही है तो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मोही गृहस्थों के समान भाव एवं व्यवहार करेगा । इस प्रकार मोही जीव अन्य (धनादि) के लिए दुःखों को वरण करता है ।

3) मोही जीव दूसरे जीवों के कारण भी दुःखों को भी वरण करता है । जिन जीवों से वह

## कथचित् बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार अहितकर भी है।

मैं बाल्यकाल से ही शिक्षा एवं संस्कार को बहुत ही महत्व देता आ रहा हूँ। इसलिए मैंने विद्यार्थी जीवन से ही जब कि मैं तीसरी कक्षा का विद्यार्थी था तब से ही मैं स्वयं अध्ययन कर रहा हूँ तथा दूसरों को भी पढ़ा रहा हूँ। अभी तक मैंने विद्यार्थी जीवन से लेकर ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, उपाध्याय, आचार्य अवस्था तक सोलह प्रदेशों के छोटे ग्राम से लेकर महानगर के स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय के लाखों विद्यार्थी; हजारों अध्यापक, प्राध्यापक, प्राचार्य, पंडित, लेक्चरर, प्रोफेसर्स, वैज्ञानिक तथा 400-500 जैनाचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदि को लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार हजारों कक्षा एवं 26 शिविर में और स्कूल, कॉलेज में दिया हूँ और दे रहा हूँ। एतदर्थ 1) संस्कार (छ: भाषा में 15 संस्करण) 2) धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका (भाग-प्र. द्वि. तृ. सप्तम संस्करण) 3) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान (हिंदी, अंग्रेजी) 4) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (छोटा, बृहत) आदि कृति की रचना की है तथा सात राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी, 8 कम्प्यूटर कृत ज्ञानवर्धक प्रतियोगिता और भी हजारों सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रश्नमंच, आहार दान के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक रूप का आयोजन किया है, कर रहा हूँ और आगे भी करूँगा। मुझ से जिन्होंने शिक्षा एवं संस्कार प्राप्त किये हैं वे प्रायः योग्य बने हैं और बन रहे हैं। इस प्रतिफल के कारण एवं मेरी स्वाभाविक परोपकार की भावना के कारण मैं शिक्षा, संस्कार, दीक्षा आदि में सतत संलग्न हूँ। तथापि मैंने जो विश्व साहित्यों के अध्ययन से जाना, टी.वी. तथा समाचार पत्रों से सुना-पढ़ा और प्रायोगिक रूप से अनुभव किया उसके आधार पर मैं जिस निष्कर्ष पर पहूँचा हूँ वह यह है कि अयोग्य व्यक्ति द्वारा या अयोग्य पद्धति से अथवा अयोग्य व्यक्ति को प्राप्त बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा तथा संस्कार अहितकर भी होता है। जिस प्रकार लोक में प्रचलन है कि स्वाती नक्षत्र की बूँद सीप में मोती बन जाती है, तो केलों के वृक्ष में कपूर तथा सर्प के मुख में विष बन जाती है। प्राकृतिक जल अग्नि के संपर्क में गरम या बाष्प तो फ्रिज में बर्फ बन जाता है जिससे जल की प्राकृतिक तरलता, शीतलता आदि गुण में परिवर्तन हो जाता है। प्राकृतिक भोज्य पदार्थ के भी गुण-धर्म में तब परिवर्तन आ जाता है जब उसे विभिन्न मिर्ची, मसाला, चाप-ताप, सर्दी-गर्मी से संयुक्त किया जाता है। इस प्रकार बाह्य शिक्षा, संस्कार से भी जीव की प्राकृतिक, सहज-सरल, स्वभाव, प्रज्ञा, बुद्धि, विचार, व्यवहार आदि प्रभावित होते हैं, परिवर्तीत होते हैं। जल का स्रोत जिस प्रकार

आसक्त/राग/स्वार्थ भाव रखता है उनके लिए वह अन्याय, शोषण, अत्याचार, पापाचार, कलह, युद्ध, आदि करके उनके रक्षण, पोषण, संवर्धन करता है। जिन जीवों से वह द्वेष, घृणा, भेदभाव, पराया भाव रखता है उनके लिए या उनके कारण भी वह अन्याय, अत्याचार, शोषण, पापाचार, कलह, युद्ध आदि करके उन्हें अपमानित, तिरस्कृत, शोषित, प्रताङ्गित, नष्ट-भ्रष्ट करता है। मोही जीव का जिसके प्रति आसक्त/राग/स्वार्थ भाव नहीं रहता है उसे वह अपना विरोधी/शत्रु/प्रतिपक्षी/प्रतिद्वन्द्वी मानकर उससे घृणादि करता है। इतना ही नहीं जो अपना मत-पंथ परम्परा, सभ्यता, संस्कृति, जाति, वेश-भूषा, ग्राम, नगर, राष्ट्र, संघ, संगठन, दल से भिन्न है उनसे उपर्युक्त घृणादि भाव करता है। इस प्रकार मोही स्वजन या परजन के कारण दूसरों के साथ-साथ स्वयं को भी विविध प्रकार के दुःख देता है। किंतु निर्मोही जीव स्वजन के लिए या उनके कारण भी राग, द्वेष, घृणा, अन्यायादि नहीं करता है तथा परजन के कारण या उनके लिए भी राग-द्वेषादि नहीं करके मैत्रि, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ/साम्यभावमय व्यवहार करता है।

मोही जीव अप्रयोजनभूत/अनावश्यक पाप चिंतन-पापाचार अन्य को निमित्त बनाकर ज्यादा करता है। इसलिए तो सिंह जीवन भर शिक्षार करके भी अधिक से अधिक पांचवें नरक तक जाता है तो एक नारी 6 वें नरक एवं नर 7 वें नरक जाता है भले वे शिक्षार भी नहीं करते हो मांस भी नहीं खाते हो। जीव यदि अप्रयोजन भूत पाप नहीं करेगा तो वह अधिकांश पाप, दुःख समस्याओं से मुक्त हो जायेगा परंतु मोही को अप्रयोजनभूत कार्य ही महत्वपूर्ण करणीय लगता है तथा प्रयोजनभूत कार्य महत्वहीन अकरणीय लगता है। इससे विपरीत निर्मोही प्रयोजनभूत कार्य को सच्ची भावना से अच्छी तरीका से करता है जिससे वह अधिकांश पाप से मुक्त रहता है। मोही पतंग के समान दूर से स्वयं को क्षति पहूँचाये बिना अग्नि से काम लेता है। नदी में गिरकर, बहकर, डुबकर मरने के समान मोही का व्यवहार होता है तो तटस्थ व्यक्ति के समान निर्मोही तटस्थ रहकर संसार रूपी नदी का दृश्य देखता है, या तैरकर पारकरता है या डुबकी लगाकर स्नान करता है या मोती प्राप्त करता है। मोही दूसरों के दोषों को ग्रहण करेगा या उसके कारण संक्लेश करेगा परंतु निर्मोही दूसरों के दोषों को ना ग्रहण करेगा न ही संक्लेश करेगा किंतु दूसरों के दोषों से शिक्षा लेकर उन दोषों से दूर रहेगा। संक्रामक महामारी रोग के समान मोह है जो स्वपर दुःखप्रद है तो निर्मोही प्रकाश के समान है जो स्वयं अंधेरा बने बिना अंधेरा से प्रभावित हुए बिना अंधेरा को दूर करता है।

स्वाभाविक निम्न गामी है और कम ऊँचाई से गिरने पर उस का प्रहार कम होता है और अधिक ऊँचाई से गिरने पर उसका प्रहार अधिक होता है अथवा यंत्र के माध्यम से भी उसका प्रहार अधिक होता है उसी प्रकार जीवों की दुर्बुद्धि-दुष्प्रवृत्ति भी शिक्षा, प्रशिक्षण (संस्कार) से तीव्र हो सकती है। जिस प्रकार तीव्र गतिशील पत्थर, गोली, यान-वाहन आदि की मारक शक्ति भी अधिक होती है तो तीक्ष्ण धार वाले अस्त्रों की भेदक शक्ति अधिक होती है, पाक के कारण औषधि की शक्ति बढ़ती है उसी प्रकार शिक्षा, प्रशिक्षण (संस्कार) के कारण अहितकर बुद्धि एवं प्रवृत्ति भी तीव्र हो जाती है। निम्न में विभिन्न की अपेक्षा से कुछ सविस्तार वर्णन स्पष्टीकरण के लिए कर रहा हूँ।

**1) व्यक्तिगत कुप्रभाव :-** मानव शिशु किसी भी देश में किसी भी भाषा-भाषी या धार्मिक संप्रदाय अथवा धनी-गरीब या शिक्षित या अशिक्षित परिवार में, घर में या जड़ल में जन्म ले तथापि उनके नम्रत्व, रोना, हंसना, हाथ पैर हिलाना, खड़ा होना-बैठना आदि प्रायः समान ही होते हैं। हर भाषा-भाषी, राष्ट्र आदि के अनेक शिशुओं को एक साथ खेलने के लिए एक स्थान में रखने से वे बिना भेदभाव से खेलेंगे, प्रसन्न होंगे। परंतु धीरे-धीरे माता-पिता, परिवार, समाज, परिसर, शिक्षा, धार्मिक-संप्रदाय, राष्ट्र आदि के प्रभाव, शिक्षा, संस्कार आदि के कारण उसके भाषा, विचार, रहन-सहन, व्यवहार आदि में अंतर आ जाता है, इसके कारण एक भाषा वाला अन्य भाषी को, एक धर्म वाला अन्य धर्मावलम्बी को भिन्न मानता है। इसी प्रकार परिवार, ग्राम, समाज, प्रदेश, देश, धनी-गरीब, शिक्षित, अशिक्षित की अपेक्षा से भी भेद-भाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों के शिशुओं में भी प्रायः पाया जाता है। शाकाहारी-मांसाहारी (भृश्याभक्षक) शिशु भी प्रेम से खेलते हुए पाये जाते हैं परंतु बड़े होने पर तथा संस्कार, प्रशिक्षण के कारण ये भाव एवं व्यवहार लोप हो जाते हैं।

**2) धार्मिक सांप्रदायिकता का कुप्रभाव :-** संकीर्ण, कट्टर, अंधविश्वास से युक्त धार्मिक शिक्षा-प्रशिक्षण एवं संस्कार का कुप्रभाव व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, अंतराष्ट्र के ऊपर सबसे अधिक पड़ता है। ऐसा प्रायोगिक रूप से अनुभव में आता है; समाचार पत्रों में पढ़ने में मिलता है, टी.वी. में देखने एवं सुनने में आता है। इतना ही नहीं देश-विदेश के धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक साहित्यों के अनेक रक्तरज्जित पृष्ठ इसके लिए साक्षी है। संकीर्ण, कट्टर, अंधविश्वास पूर्ण धार्मिक साहित्य, प्रचारक, समर्थक, पोषक, प्रशिक्षक, प्रशिक्षण, शिक्षा, संस्कार के कारण व्यक्ति, परिवार, संगठन, धार्मिक संप्रदाय के अनुयायी, राष्ट्र, अंतराष्ट्र तक संकीर्ण, कट्टर, अंधविश्वासी, क्रूर, विघटक, विघ्वासक, हिंसक, आतङ्कवादी, युद्धोन्मादी बन जाते हैं। सत्ता, संपत्ति, स्त्री, प्रभुत्व, आदि के कारण धर्ती तथा मानव जाती जितनी खंडित-विखंडित, पीड़ित,

आतङ्कित, आक्रमण-प्रतिआक्रमण तथा रक्तरज्जित हुए हैं उससे भी अधिक ऐसे ही धार्मिक-सांप्रदायिकता के कारण है। इसी कारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक अन्य धर्मावलम्बी या स्वधर्म के भी अन्य पंथ-मत के अनुयायी को केवल पर ही नहीं मानते हैं परंतु उन्हें विपक्षी से आगे भी विधर्मी, कुधर्मी, अधर्मी, पापी, शत्रु, अनिष्टकारी, धरती के लिए अनिष्टकारी मानते हैं, बोलते हैं, लिखते हैं। इतना ही नहीं उन्हें मनवचन-काय तथा हर संभव उपायों से अपमानित, दुःखित, पीड़ित करते हैं; उन्हें पराधीन करना, उनका शोषण करना, उनका धर्म परिवर्तन करना यहाँ तक कि हत्या तक करना अपना श्रेष्ठ धार्मिक कर्तव्य मानते हैं। ऐसे ही कुछ धार्मिक सांप्रदायिकता के कारण पशुबली से लेकर नरबली, मांस भक्षण, मद्यपान एवं धर्म प्रचारार्थे युद्ध, आतङ्कवाद, राष्ट्र के विखण्डन, आत्महत्या, शिशुहत्या, दासप्रथा (गुलामी), बहु विवाह प्रथा, रुढ़ीवादिता, अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलन में आई हैं और प्रचलन में हैं। इसके कारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्र के मौलिक, पवित्र, उदार, प्रगतिशील, सत्याग्रही, अहिंसक, समन्वयात्मक, सापेक्षा, एकता, विश्व मैत्री, विश्व शांति, वैज्ञानिक, तार्किक सोच-विचार, कथन, लेखन, व्यवहार कुंठित, विपरीत, विकृत होते हैं। इसके कारण प्राचीन काल से देश-विदेश के अनेक उदारवादी, प्रगतिशील व्यक्तियों की प्रताड़ना से लेकर हत्या तक हुई है और ऐसी बर्बरता अभी भी मानव समाज में विद्यामान है जो कि अभी भी कभी-कभी प्रकट होती रहती है। भिन्न-भिन्न परिवार, भाषा, शिक्षा, सत्ता-संपत्ति, राष्ट्र आदि के लोग एक साथ मिलकर खेल, शिक्षा, व्यापार, यान-वाहन में यात्रा, राजनीति आदि कर सकते हैं परंतु भिन्न-भिन्न धार्मिक पंथ-मत वाले एक दूसरों के धार्मिक कार्यक्रम आराधनास्थल, अनुयायियों को क्षति पहुँचाते हैं। राजनैतिक रैली आदि में जितना तनाव, लडाई-झगड़ा, हिंसा आदि की आशंका रहती है उससे भी अधिक धार्मिक रैली, जुलूस आदि में आशंका रहती है और कभी-कभी घटती भी है। कट्टर सांप्रदायिकता का प्रशिक्षण, संस्कार, शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की उपर्युक्त कार्यों में अधिक भूमिका रहती है। सामान्य धर्मावलम्बियों का तो उस-उस पंथ-मत का विशेष ज्ञान ही नहीं रहता है इसलिए वे ऐसे कुर्यार्थ कम करते या करने की क्षमता कम रहती है। इसलिए तो ऐसे कर्यक्रम के लिए प्रशासन सरलता से अनुमति नहीं देता है और देने पर भी सुरक्षा के लिए अधिक पुलिस की व्यवस्था करता है। इसलिए प्रबुद्ध उदारवादी, सहिष्णु लोग ऐसी सांप्रदायिकता को धर्म के नाम पर अनुचित, कलंक, अधर्म मानते हैं, उससे दूर रहते हैं और इसे कम करना चाहते हैं।

**3) जातियता का कुप्रभाव :-** गुण-कर्म-स्वभाव, व्यवहार, व्यवसाय आदि जातियता के कारण है। जैसा कि शरीर के उत्तरांग या निम्नांग के स्थान एवं कार्य

अलग-अलग होने पर वे सब शरीर के लिए आवश्यक हैं उसी प्रकार विभिन्न जाति के लिए भी जान लेना चाहिए। अपनी जाति की विशेषता के अनुसार अच्छे कार्य करके उसे गौरावान्वित करना चाहिए। परंतु अपनी जाति की विशेषता के कारण या जाति की विशेषता को जानकर अन्य जाति के साथ दुर्व्ववहार नहीं करना चाहिए। परंतु देश-विदेश में जाति को लेकर भेद-भाव, छुआ-छूत, मानापमान, धृणा, द्वेष से लेकर महायुद्ध तक हुआ है। हिटलर ने जर्मनी जाति को सबसे शुद्ध, सबसे श्रेष्ठ आर्य जाति के रूप में स्थापित करने के लिए यहूदी आदि के साथ धृणा की एवं सब के ऊपर शासन करने के लिए द्वितीय विश्व युद्ध किया जिससे  $2\frac{1}{2}$  करोड़ लोगों की हत्या हुई। इसी प्रकार ऊँच-नीच, काला-गोरा आदि भेद-भाव के कारण मानव जाति की जो क्षति हुई है और हो रही है यह सर्व विदित है। इसका दुष्प्रभाव समाज से लेकर अंतर्राष्ट्र, शिक्षा, राजनीतिक से लेकर धर्म तक में पड़ा है और पड़ रहा है। इस के कारण मानव जाति की समरसता में बाधा पहुँचती है। प्रत्येक अज्ञ में भी उपाज्ञ होते हैं वे सब सह अस्तित्व सहयोग करते हुए रहते हैं परंतु प्रत्येक जाति में जो उपजाति भी है उसमें भी इस गुण के परिवर्तन में उपर्युक्त दुर्गुण पाये जाते हैं। बच्चे या जिसे जाति संबंधी ऊँच-नीच की जानकारी नहीं हैं वह भी ऐसा दुर्व्ववहार नहीं करता है। मुख्यतः जाति संबंधी कुविचार तथा दुर्व्ववहार बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा-संस्कार से आते हैं ऐसा देश-विदेश के पुराण, इतिहास तथा प्रायोगिक अनुभव से सिद्ध होता है।

**4) याष्ट्रीयता का कुप्रभाव :-** वायु, सूर्य-शमी, बादल, आकाश, आदि किसी व्यक्ति विशेष के नहीं हैं परंतु सब के हैं उसी प्रकार धरती है। क्योंकि प्राकृतिक वस्तु किसी की भी व्यक्तिगत नहीं होती है। जीव जहाँ जन्म लेता है प्राकृतिक रूप से उस धरती का वह भाग उसका निवास स्थान होता है। इसलिए उस भाग के प्रति अपनत्व होना स्वाभाविक है। उस स्थान की सुरक्षा एवं समृद्धि से उस जीव की भौतिक, शारीरिक आदि सुरक्षा-समृद्धि भी निर्भर हैं इसलिए मातृभूमि भक्ति/राष्ट्रीयता/राष्ट्रभक्ति भी उचित है। परंतु संकीर्ण, कट्टर, धृणा उत्पादक, अन्य राष्ट्र के ऊपर आक्रमणात्मक राष्ट्रीयता के संस्कार, शिक्षा, प्रशिक्षण के कारण अनेक राष्ट्र परतंत्र हो जाते हैं, विध्वंस हो जाते हैं। प्राचीन कालीन दिविजय से लेकर सिंकंदर की विश्व विजय, अशोक का कलिंग के ऊपर आक्रमण, प्रथम विश्व युद्ध, तिब्बत-कश्मीर, फिलीस्तीन-इजराईल आदि की समस्या, भारत का विखण्डन यह सब ऐसी ही राष्ट्रीयता का दुष्परिणाम है। ऐसी राष्ट्रीयता “वसुधैव कुटुम्बकम्” विश्व मैत्री, विश्व शांति, सह अस्तित्व, सहजीविता आदि के विष्वसंक है।

**5) धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित आदि का कुप्रभाव :-** भौतिक, सांसारिक सुख-सुविधा आदि के लिए धन, शिक्षा आदि की आवश्यकता है। परंतु उस

की उपलब्धि से व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र में संस्कृति, सच्चाई एवं अच्छाई से अधिक विकृति, अहंवृत्ति, शोषण प्रवृत्ति, फैशन-व्यसन आदि की बुराई आती है। यह सब बुराई प्रायः सब क्षेत्र, सब काल में व्याप्त हैं। धनी या शिक्षित व्यक्ति स्वयं को दूसरों से सर्वोच्च सिद्ध करने के लिए अनेक बुराइयों को अपनाता है तथा उपने परिवार को भी उसी प्रकार प्रशिक्षण देता है; स्वयं साधारण व्यक्तियों से दूर-दूर रहता है तथा परिवार को भी ऐसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य करता है। विश्व इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति से लेकर जो जाति, संगठन, समाज या राष्ट्र संपन्न या शिक्षित बने वे उपर्युक्त दुर्गुणों से युक्त हुए हैं और अभी भी हो रहे हैं। यथा - रावण, कंस, रोमन साम्राज्य, कौरव, यादव, जर्मन, अंग्रेज, सिंकंदर, नेपोलियन, हिटलर आदि। अधिकांश युद्ध, आक्रमण, विध्वंस, राज्यविस्तार इनके द्वारा या ऐसे ही व्यक्ति आदि के द्वारा होते हैं और हो रहे हैं। कहा भी है -

कनककनकते सौ गुनी मादकता अधिकाय ।

वे खाये बौराये नर वे पाये बौराय ॥

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआँ पंडित भया न कोय ।

ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय ॥

सीख ताको दीजिये जाके सीख सुहाय ।

सीख दीनी वानरा घर बया के जाय ॥

इसी प्रकार ग्राम-नगर, प्राचीनता-आधुनिकता, सुंदर-असुंदर, दुर्बल-बलवान् आदि के बारे में यथायोग्य जान लेना चाहिए।

**बाह्य शिक्षा एवं संस्कार से उठित यशल जीवन :-** जैन धर्म के देढ़-दो हजार वर्ष प्राचीन ग्रंथों में वर्णन पाया जाता है कि भोग भूमिज मनुष्यों में (पशु-पक्षी) भी उपर्युक्त विकृतियाँ नहीं होती थी। पूर्व जन्म के संस्कार, पुण्यकर्म के कारण जो भोगभूमि में उत्पन्न होते थे उन में प्राकृतिक रूप से ही सहज-बुद्धि, सरल-सहजता, मृदुता, नप्रता, परस्पर प्रेमपूर्ण व्यवहार आदि गुण होते थे। उस समय पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक, शैक्षणिक, धार्मिक, संस्थागत कोई व्यवस्था नहीं थी। उनका जीवन, व्यवहार, खान-पान से लेकर लालन-पालन भी प्राकृतिक होता था इसलिए बाह्य लौकिक या धार्मिक शिक्षा, संस्कार, प्रशिक्षण, पारिवारिक से लेकर राष्ट्रीयता आदि का प्रभाव भी उनके ऊपर नहीं था। अतः उस संबंधी विकृतियाँ भी उनमें नहीं थी। निम्न में उनका वर्णन प्राचीन ग्रंथानुसार कर रहा हूँ -

णथि असण्णी जीवो, णथि तहा सामि भेदो य ।

कलह-महाजुद्धादि, ईसा-रोगादिण हु होति । 332

इस काल में असंजी जीव नहीं होते तथा स्वामी और भूत्य का भेद नहीं होता। इसी प्रकार नर-नारी ईर्ष्या, रोग से रहित और कलह एवं युद्धादिक विरोधकारक भाव भी नहीं होते।

**रत्ति-दिणाणं भेदो, तिमिरादव-सीद-वेदणा-णिंदा।**

**परदार-रदी परथण-चोरी या णत्थि णियमेण ॥ 333**

प्रथम काल में नियम से रात-दिन का भेद, अंधकार, गर्मी व शीत की वेदना, निंदा, परस्त्रीरमण और परधन हरण नहीं होता। इस काल में युगल-युगल रूप से उत्पन्न हुए मनुष्य उत्तम व्यञ्जनों (तिल इत्यादिक) और चिन्हों (शंख, चक्र इत्यादिक) से परिपूर्ण होते हुए अष्टम भक्त में अर्थात् चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। भोगभूमि काल में संतानों की उत्पत्ति पिता-माता के जीवन के अंतिम समय में होती है। दीर्घ जीवन काल में संतान की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है। एक साथ युगल रूप से (जोड़ा से) भाई-बहिन रूप से जन्म ग्रहण करते हैं। दोनों के जन्म के उपरान्त पिता-माता की मृत्यु हो जाती है। दोनों भाई-बहिन प्रकृति की गोद में निरापद रूप से निर्भीक रूप से पलते-पोसते एवं पति-पत्नि रूप में जीवनयापन करते हैं। उनका शरीर अत्यंत मनोहर, सुसंगठित, दृढ़ होता है। उस भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य नौ हजार हाथियों के सदृश बल से युक्त किञ्चित् लाल हाथ-पैर वाले, नव चंपक के फूलों की सुगंध से व्यास, मार्दव एवं आर्जव गुणों से सहित, मंद कषाय, सुशीलता पूर्ण आदि के अर्थात् वज्रवृष्टभनाराच सहनन से युक्त, समचतुरस्त्र शरीर संस्थान वाले उगते सूर्य के सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुए भी मल-मूत्र से रहित और युगल धर्म से सहित होते हैं। इस काल में नर-नारी के अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं है। भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य का शरीर वज्र के समान सुदृढ़ होता है। उनके शरीर के अस्थिपञ्चर वज्र के समान दृढ़ एवं वज्र के वेस्टन से बँधे रहते हैं। वे कभी भी लघुशंका एवं दीर्घशंका नहीं जाते हैं।

**गाम-ण्यरदि सव्वं, ण होदि ते होंति दिव्व-कल्पतरू।**

**णिय-णिय-मण-संकप्पिद-वत्थूणि देंति जुगलाण ॥ 341**

इस समय वहाँ पर गाँव व नगरादिक नहीं होते, केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं जो युगलों को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को दिया करते हैं। भोगभूमिजों की श्रोत इंद्रिय गीत श्रवण में, चक्षुरूप में, द्वाण सुंदर सौरभ में, जिह्वा विविध प्रकार के रसों में और स्पर्शन इंद्रिय स्पर्श में रमण करती है। इस प्रकार परस्पर में आसक्त हुए वे युगल नर-नारी उत्तम भोग सामग्री के निरंतर सुलभ होने पर भी इंद्रिय विषय में तृप्ति को नहीं पाते। ये भोग-भूमिजों के युगल कदलीघातमरण से रहित होते हुए आयु पर्यंत

चक्रवर्ती के भोग समूह की अपेक्षा अनंत गुणे भोग को भोगते हैं। ये युगल कल्पवृक्षों से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत से शरीर को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं। वे भोग भूमिज जीव, देव-देवियों के सदृश बत्तीस प्रशस्त लक्षण से सहित सुकुमार देह रूप विभव के धारक, समचतुरस्त्र संस्थान से संयुक्त होते हैं और उनका शरीर धातुमय होते हुए भी छेद-भेदा नहीं जा सकता एवं अशुचित्व से रहित होने के कारण इनके शरीर में मूत्र-विष्टा का आस्तव नहीं होता है।

**अक्खर-आलेक्खेसुं, गणिदे गंधव्व-सिष्प-पहुदीसुं।**

**ते चउसट्टि-कलासुं होंति साहावेण णिउणयरा ॥ 385**

वे अक्षर चित्र, गणित, गंधर्व संगीत, शिल्प इत्यादि चौंसठ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं। वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं इसलिए उनके श्रावक के ब्रत और संयम नहीं हैं। वे नर-नारी युगल कोयल के समान मधुरमयी, किन्नर के समान कंठ वाले, कुल जाति के भेद से रहित, सुख में आसक्त और दरिद्रता से रहित होते हैं।

**तिरिया भोगखिदीए, जुगला जुगला हवंति वर-वरण।**

**सरल मन्दकसाया, णाणाविह-जदि-संजुत्ता ॥ 388**

भोग-भूमि में उत्तम वर्ण विशिष्ट, सरल, मन्दकसायी और नाना प्रकार की जातियों वाले तिर्यक्ष जीव युगल-युगल रूप से होते हैं। भोग-भूमि में गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारंग, रोझ (ऋश्य), भैंस, वृक (भेड़िया), बंदर, गवय, तेंदुआ, व्याघ्र, शृंगाल, रीछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कोरड, काक, क्रौंच और कंजक तथा और भी तिर्यक्ष होते हैं। जहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के भोग होते हैं उसी प्रकार इन तिर्यक्षों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कंद, तृण और अंकुरादि रूप भोग होते हैं। वहाँ व्याघ्रादि भूमिचर और काक प्रभृति नभचर तिर्यक्ष मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों का मधुर फल भोगते हैं तथा भोग-भूमि में उदय कालीन सूर्य के समान प्रभाव वाले समस्त हरिणादिक तृण-जीवी पशुओं के युगल दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं।

उपर्युक्त भोग-भूमिज मनुष्य के अनेक गुण-धर्म, सरल-सहजता अभी भी शिशु में पाये जाते हैं। इस संबंधी विशेष ज्ञान मेरे “बड़ों के गुरु बच्चे” (बच्चों से प्राप्त शिक्षायें) लेख से प्राप्त कर सकते हैं।

## धार्मिक आयोजन में दुर्घटनायें एवं अपमृत्युः धार्मिक एवं वैज्ञानिक अनुसंधान

आध्यात्मिक महापुरुषोंने शोध-बोध-अनुभव किया और प्रचार-प्रसार-उद्घोषण किया तथा ग्रंथों में भी लिपिबद्ध किया कि धर्म मंगल, पवित्र, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, स्व-पर, विश्व कल्याणकारी है परंतु प्रायोगिक रूप से अनुभव में आता है तथा पढ़ने-सुनने में आता है कि अधिकांश धार्मिक आयोजनों में अव्यवस्था, तनाव, प्रदूषण, लडाई-झगड़ा, फूट-लूट, बलात्कार, भ्रष्टाचार, फैशन-व्यसन, चोरी, महामारी, दुर्घटना, अपमृत्यु होती रहती है। तब जिज्ञासा होती है कि सामूहिक रूप से जो धार्मिक आयोजन होते हैं उसमें तो सामूहिक साधना, साधन, भावना, शक्ति, समय, पुरुषार्थ आदि के कारण सुफल अधिक मिलना चाहिए परंतु अधिक दुर्घटनायें, अपमृत्यु क्यों होती है? इस संबंधी मेरी जिज्ञासा के फलस्वरूप मैंने (आ.कनकनंदी) जो कुछ दीर्घ अनुभव किया, धर्म से लेकर विज्ञान में अध्ययन किया उसका कुछ सार संक्षेप इस शोधपूर्ण प्रकरण लिपिबद्ध किया है।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिर्वहणम् ।

संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ 2 र.ल.श्रा.

महान् दार्शनिक तत्त्ववेत्ता, तार्किक चुडामणि समन्तभद्र स्वामी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उस धर्म को कहूँगा जो धर्म संसारी जीवों के समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दुःखों के कारणभूत कर्मों को नाश करके अनंत सुख में धारण करता है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म के माध्यम से आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तथा इहलोक-परलोक आदि के भय से निवृत्ति होती है एवं जीव को शाश्वतिक, अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक अनंत सुख प्राप्त होता है। कहा है -

“यस्मात् अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।”

जिससे स्वर्गादिक का अभ्युदय सुख एवं निर्वाण रूप परम सुख की सिद्धि होती है उसको धर्म कहते हैं। और भी कहा है -

धर्मं सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते ।

धर्मेणैव समाप्यते शिवं सुखं धर्माय तस्मै नमः ॥

धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्वभृतां धर्मस्य मूलं दया ।

धर्मे चित्तमहं दथे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय ॥ प्रतिक्रमण

धर्म सर्व प्रकार के सुख को देने वाला है; हित करने वाला है, धर्म से निर्वाए अथवा मोक्ष सुख मिलता है। इसलिए हे सुख के इच्छुक भव्य जीवों! धर्म को ही संश्लित करिये। धर्म को छोड़कर संसारी जीवों का अन्य कोई भी हित करने वाला नहीं है। धर्म का

मूल दया अर्थात् करुणा या अहिंसा है। धर्म में मैं अपने चित्त को सदा लीन करता हूँ। हे जगत् उद्धारक! सुख शांति प्रदायक! धर्म मेरा पालन कीजिए।

पवित्रं क्रियते येन येनैव द्वियते जगत् ।

नमस्तस्मै दयाद्राय धर्मं कल्पाङ्गिपाय वै ॥

जिससे जीव पवित्र हो जात है और जो विश्व को धारण करता है, दया से आद्वधर्मरूपी कल्पवृक्ष के चरण को मैं नमस्कार करता हूँ, अर्थात् धर्म से ही पतित जीव पावन हो सकता है, दानव मानव बन सकता है, मानव महामानव, भगवान् बन सकता है। यह संपूर्ण चराचर विश्व धर्म से आधारित है।

धर्मो गुरुश्च मित्रं व च धर्मः स्वामी च बांधवः ।

अनाथं वत्सलं सोऽयं स त्राता कारणं बिना ॥

धर्मं हीं गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बंधु है, अनाथ का रक्षक है और बिना स्वार्थ के रक्षण करने वाला है।

धर्मो मंगलमुक्तिं अहिंसा संज्ञमो ततो ।

देवा वि तस्स णमंसंसंति जस्स धर्मे सद्यामणो ।

धर्म ही लोक में उत्कृष्ट मञ्जल है, अहिंसा धर्म है, संयम धर्म है एवं तप धर्म है। जिसका मन सर्वदा धर्म में लीन रहता है, उसको स्वर्ग के देव भी नमस्कार करते हैं।

वत्थु सहावो धर्मो, अहिंसा खमादि आद धर्मो ।

रयणत्तयं च धर्मो, अणेयंत सुभावणा धर्मो ॥ आ. कनकनंदी

वस्तु का स्वभाव धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं उत्तम क्षमा, आर्जव, मार्दव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य ये आत्म धर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यचारित्र धर्म हैं। अनेकांत (स्याद्वाद), बारह भावना मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव भी धर्म हैं। उपर्युक्त धर्म से समस्त शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, भौतिक, सामाजिक सुख से लेकर आत्मोत्थ अनंत अक्षय आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि होती है। परंतु अमूर्तिक अनंत, असीम आकाश को जिस प्रकार अधिकांशतः सामान्य व्यक्ति नीले रूप से गोलाकार ससीम देखता है, उसी प्रकार धर्म को भी अधिकांशतः सामान्य व्यक्ति संकीर्ण, मिथ्या, विकृत रूप से कहते हैं, मानते हैं, अपनाते हैं।

प्राकृतिक ताजा अंगूर गुणकारी है परंतु विकृत होकर शराब बनने पर नाशकारी है, इसी प्रकार उपर्युक्त धर्म तो गुणकारी है परंतु विकृत धर्म अहितकारी है। यथा -

धर्मं शब्दं मात्रेण प्रायेण प्राणिनः अधमा ।

अधर्मेव सेवन्ते विचार जड चेतसः ॥

विचार में जड अधम प्राणी प्रायः धर्म शब्द से अधर्म का ही सेवन (विश्वास, आचरण) करते हैं। विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भी कहा है -  
मतामतेर तर्क मत आच्छिसि भूलि सरल सत्य। सकल घेरे सकल नरे आच्छेन् भगवान् ॥

अर्थात् मतवाद, पंथवाद, तर्कवाद के कारण व्यक्ति इस सहज-सरल सत्य को भूल जाता है कि प्रत्येक घर में, प्रत्येक नर में, प्रत्येक जीव में भगवान् हैं।

प्रायः प्रत्येक धर्मावलंबी अत्यंत दूस्थ या कल्पित या अवास्तविक भगवान् को संतुष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार के अनेक प्रयत्न करते हैं परंतु निकटस्थ विभिन्न जीव रूप में विद्यमान भगवान् से धृणा, द्वेष, अयोग्य व्यवहार या यहाँ तक कि निर्मम हत्या या बलि चढ़ा करके स्वयं को भगवान् के सच्चे भक्त, अनुयायी मानते हैं, घोषणा करते हैं।

इस व्यवहार में और भी तीव्रता, व्यापकता तब आ जाती है जब इस व्यवहार में भीड़ मिल जाये या यह व्यवहार भीड़ में हो। क्योंकि भीड़ व्यवहार के प्रमुख सिद्धान्त (Principles of crowd behaviour) के अनुसार “भीड़ एक ऐसा अस्थायी, सशक्त, असंगठित एवं पूर्णतया अमर्यादित समूह है जो किसी सामान्य रूचि के फल स्वरूप उत्पन्न हो जाता है।

### भीड़ की विशेषतायें (Characteristics of crowd)

- 1) एकत्रीकरण एवं ठहराव। 2) एक सामान्य रूचि, उद्देश्य तथा कार्य का केंद्र।
- 3) अस्थिर प्रकृति का होना। 4) एक सामान्य संवेग का होना। 5) विभेदक सहभागिता का होना। 6) परस्पर प्रभावित होना। 7) स्थानीय फैलाव का होना। 8) सामूहिक शक्ति की अनुभूति करना।

सर्वश्री लीबों तथा मैकड़ूगल ने भीड़-व्यवहार के व्याख्या समूह मस्तिष्क के सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत की है। उनके अनुसार भीड़ की एक सामान्य स्थिति में जब अनेक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और अति घनिष्ठ रूप से परस्पर अंतःक्रिया करते हैं तो मन अथवा चेतन आपस में मिलकर एक समूह मस्तिष्क को जन्म देते हैं। वह समूह मस्तिष्क अपने ढंग से भीड़ के सदस्यों के व्यवहार को संचालित व नियंत्रित करता है।

उन्होंने लिखा है - “भीड़ के समस्त व्यक्तियों के संवेग तथा विचार एक ही दिशा में बहने लगते हैं और उनका चेतन व्यक्तित्व गायब हो जाता है। फलतः सामूहिक मस्तिष्क निःसंदेह ही अस्थिर होता है, परंतु निश्चित एवं स्पष्ट विशेषताओं को प्रस्तुत करता है। ऐसा जन-समूह एक मनोवैज्ञानिक भीड़ बन जाता है। एक प्राणी का रूप धारण कर लेता है और भीड़ की मानसिक एकता के सिद्धान्त के अधीन हो जाता है।”

फ्रायड तथा उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार सामाजिक नियंत्रणों के कारण दबी हुई वे इच्छायें जो हमारे मस्तिष्क के अचेतन

स्तर पर पड़ी रहती हैं, भीड़ की परिस्थिति में व्यक्त होकर उभरती या फूट पड़ती हैं।

ऑलपोर्ट के अनुसार - “भीड़ में बहुत से लोग एकत्रित होते हैं, इस कारण उनकी उपस्थिति व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। ऑलपोर्ट का कहना है कि दूसरों को देखकर या उनकी आवाज सुनकर ही एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया की मात्रा में बढ़ि हो जाती है। फलस्वरूप वह एक विशेष ढंग से व्यवहार करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति जब यह अनुभव करने लगता है कि बहुत से लोगों की क्रियाओं का स्रोत टुट पड़ा है तो उसी प्रभाव में वह खुद भी बहने लगता है। ऑलपोर्ट का यह भी मत है कि दूसरे लोगों के शरीरिक दबाव और धक्के से एक व्यक्ति में यह भावना पैदा हो जाती है कि भीड़ बहुत शक्तिशाली है और सारे सदस्यों की इज्जत बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह भी वैसा ही व्यवहार करे।

गिन्सवर्गा का कथन है - “ अकेले होने की अपेक्षा भीड़ में व्यक्ति एक भिन्न तरीके से सोचते और व्यवहार करते हैं। परिस्थिति की क्रियाशीलता का एक विशेष उदाहरण है। दूसरों की उपस्थिति में सामाजिक सहज प्रवृत्तियाँ तीव्र हो जाती हैं। इससे एक अस्पष्ट सा उल्लास पैदा होता है, जो नेताओं को नेतृत्व करने और अपने ऊपर काबू रखने के लिए उकसाता है और दूसरों को उनका अनुकरण करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार सुझाव बढ़ने की प्रक्रिया चालू रहती है, जो विरोधी विचारों और संवेगों को रोकती है और केंद्र में रहने वाले विचारों तथा संवेगों को चालक शक्ति देती है। इस उल्लास के साथ सर्वशक्तिमान होने की अनुभूति भी रहती है। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत उत्तराधित्व की बुद्धि नष्ट हो जाती है। भीड़ में ध्यान, एकाग्रता और चेतना का संकुचित होना भी शामील रहता है और इसके फलस्वरूप साधारण जीवन के नियंत्रणकारी विचारों और आदर्शों का अभाव हो जाता है।”

- 1) भीड़ एक आकस्मिक घटना के कारण ही बहुधा पनपती है। इस कारण भीड़ के सदस्यों को पहले से कुछ भी पता नहीं रहता कि उन्हें कहाँ, कौन सी भूमिका अदा करनी है।
- 2) भीड़ की बुद्धि का स्तर अत्यंत निम्न कोटी का होता है, इसलिए भीड़ के सदस्य प्रायः विवेकहीन हो जाते हैं।
- 3) भीड़, विशेषकर क्रियाशील भीड़, किसी सामाजिक सांस्कृतिक सीमा के अंदर अपने को सीमित नहीं रख सकती। भीड़ में पायी जाने वाली उच्छृंखलता किसी नियम या कानून की परवाह नहीं करती।
- 4) भीड़ में उत्तेजना या जोश बहुत ही प्रबल होता है इसलिए भीड़ में विवेक व विचारों की अपेक्षा भाव अधिक प्रेरणा प्रदान करते हैं।
- 5) भीड़ में दूसरे व्यक्तियों की उपस्थिति का अभाव प्रत्येक सदस्य पर पड़ता है। दूसरे

सदस्यों की उपस्थिति एवं उनके द्वारा किये गये कार्यों के संबंध में प्रत्यक्ष ज्ञान भीड़ के प्रत्येक सदस्यों को बल देता है और उसकी क्रियाओं को तीव्र व प्रबल वेग प्रदान करता है। 6) भीड़ में नेता तात्कालिक होता है। नेता होने का कोई गुण न होते हुए भी केवल संयोगवश व्यक्ति नेता बन बैठता है। उपर्युक्त भीड़ सिद्धान्त, भीड़ प्रवृत्ति, भीड़ शक्ति की अभिव्यक्ति के कारण विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियायें होती हैं। क्योंकि 'The action is end of the thought' अर्थात् बाह्यप्रवृत्ति अंतरंग भाव की अभिव्यक्ति है, अंतिम परिणति है।

'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे' 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' 'As you sow so you reap,' 'As you think so you become', 'To every action there is an equal and opposite reaction,' आदि सूत्रों से भी सिद्ध होता है कि जिसका सञ्चाव/भाव/होना/सत् होता है उसमें ही परिणमन होकर भविष्य का कार्य होता है। वर्तमान रूपी बीज से भविष्य रूपी वृक्ष/फल उत्पन्न होते हैं। 'As you sow so you reap,' अर्थात् जैसा बोओगे वैसा पाओगे/काटोगे के अनुसार जीव के अंतरंग भाव रूपी बीज ही बाह्य निर्मित रूपी जल, वायु, खाद के सहयोग से अंकुरित, पल्लवित, पुष्टि, फलीभूत होते हैं। बबूल के बीज से बबूल तो आम के बीज से आम के अनुसार शुभ/अच्छे भाव-परिणाम से अच्छे तो अशुभ/बुरे भाव-परिणाम से बुरे तथा शुद्ध/पवित्र परिणाम से शुद्ध परिणमन/कार्य/फल होता है अर्थात् परिणाम/भाव ही परिणाम (फल, कार्य) के मुख्य नियामक हैं, भले उसके लिए बाह्य कारक और कुछ क्यों न हो? निम्न में भीड़ से जायमान कुछ अनर्थों का दिग्दर्शन कर रहे हैं -

**1) प्रदूषण** - पूर्व वर्णित भाव प्रदूषण के साथ-साथ और भी अनेक भाव प्रदूषण एवं भौतिक प्रदूषण होते हैं। भीड़ में नीति नियम, अनुशासन, सामाजिकता, उत्तरदायित्व, जान-पहिचान आदि नहीं होने के कारण अश्लीलता, बलात्कार, छेड़छाड़, चोरी, धोखाधड़ी, हत्या, अफवाह फैलाना, शोषण, मिलावट, शोर-शराबा, अनुशासन विहीनता, उत्पृंखलता, गुण्डागर्दी आदि करना सरल हो जाता है। इसके साथ-साथ शब्द प्रदूषण, वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, भोजन प्रदूषण आदि भी होते हैं। इसके साथ-साथ यातायात, गहन विचार, लेखन, अध्ययन-अध्यापन, समुचित अच्छे विचार विमर्श, सहयोग, समन्वय आदि में व्यवधान पड़ता है।

**2) दुर्घटनायें** :- उपर्युक्त कारणों से विभिन्न महामारी, यान-वाहन की दुर्घटनाओं से जाम-माल की हानि, भीड़ के अनियंत्रित भागदौड़ से धायल एवं अपमृत्यु होती हैं। इतना ही नहीं जब एक धर्मावलंबी, पंथ, मत के कार्यक्रम में दूसरे धर्मावलंबी, पंथ, मत, वाले बाधक बनते हैं तो उस समय विभिन्न समस्यायें उत्पन्न होती हैं, लडाई-झगड़ा, लूट-पाट

आदि होते हैं जिससे भी अनेक जान-माल की हानी होती है। इन सबसे निपटने के लिए सरकार, कानून, प्रशासन, पुलिस, स्वास्थ्य विभाग आदि को काम करना पड़ता है। इसमें जो धन, जन, समय, श्रम, साधना का विनियोग होता है अन्यथा उसका विनियोग अन्य रचनात्मक कार्यों में होता है।

**3) धन संग्रह और धन का दुरुपयोग** :- धार्मिक आयोजन में विभिन्न न्याय एवं अन्यायोचित (चंदा, वसूली, बोली) आदि से धन संग्रह होता है और बाह्य आडम्बर पूर्ण साज-सज्जा गाजा-बाजा, हीरो-हीरोइन, कलाकार, कवि सम्मेलन, हाथी, घोड़ा, पाण्डाल, विद्युत सज्जा, आतिशबाजी, शोभायात्रा, फोटोग्राफी, ओडियो-वीडियो कैसेट आदि में खर्च करते हैं। इतना ही नहीं, यह सब कार्य प्रसिद्धि, प्रतिस्पर्धा, स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करना एवं दूसरों को नीचा दिखाने के लिए भी करते हैं। यदि धार्मिक आयोजन सादा-सीधा, संस्कृति, सदाचार, नीति-नियम, धार्मिक-आध्यात्मिक, शील-अनुशासन से युक्त होकर होगा तो उसका अनुकूल प्रभाव अच्छा पड़ेगा तथा उपर्युक्त प्रदूषण से लेकर धन अपव्यय आदि भी नहीं होंगे।

**4) धार्मिक आयोजन का स्वरूप एवं लाभ** :- उपर्युक्त दुष्प्रवृत्तियों से रहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, मृदुता, नम्रता, सरलता-सहजता, त्यागवृत्ति आदि से सहित होकर धार्मिक कार्यक्रम होना विधेय है, अनिवार्य है। इससे अच्छे विचार वाले व्यक्ति भी जुड़ते हैं, प्रेम, संगठन, सहयोग, सामाजिकता, राष्ट्रीयता, विश्व मैत्री, सांस्कृतिक जागरण होता है, इतिहास एवं महापुरुषों का ज्ञान होता है, उनके प्रति आदर-बहुमान होता है तथा उनके आदर्शों को अपनाया जाता है, नीरसता दूर होती है, समरसता आती है, उत्साह जगता है, ऐसे कार्यक्रम में साधु-संत, सज्जन, महापुरुष, समाज सुधारकों के प्रवचन, मार्गदर्शन प्राप्त होते हैं; जिससे एक साथ अनेक लोग लाभान्वित होते हैं।

## शोषण-प्रदूषण-अपसंस्कृति: विज्ञापन

(अयोन्यता को विज्ञापित करता है विज्ञापन)

बड़ा बडाई न करे बड़ा न बोले बोल ।

रहिमन हीरा कब कहे लाखों टका मेरा मोल ॥

अर्थात् जो बडे होते हैं, अच्छे होते हैं, मूल्यवान होते हैं वे स्वयं के गुणों को प्रकट करने के लिए बढ़-चढ़कर अपने को प्रस्तुत नहीं करते हैं । जैसा कि हीरा स्वयं अपनी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, गुणवत्ता के कारण बहुमूल्य होता है - बिना विज्ञापन के । इसी प्रकार 'अधभरी गगरी छलकत जाय भरी गगरी चुपकत जाय' 'परात्म निंदा प्रशंसे नीच गोत्रस्य' अर्थात् दूसरों की निंदा, स्वयं की प्रशंसा नीच गोत्र के कारण है, 'गुणविहीन बहुजल्पयन्ति' अर्थात् जो गुणविहीन होता है वह अधिक बोलता है आदि नीति वाक्य गुणी की गुणवत्ता/ महत्ता एवं दुर्गुणी की क्षुद्रता/अनुपयोगिता को प्रकट करते हैं । इसी प्रकार -

विद्या ददाति विनयं विनयात् याति पात्रताम् ।

पात्रतात् धन्माप्नोति धनात् धनं ततः सुखम् ॥

अर्थात् विद्या विनय को देती है । प्रकारान्तर से "विनयं ददाति विद्या" - विनय विद्या प्रदान करता है । विनय/नप्रता से पात्रता आती है, पात्रता से धन आता है और धन से धर्म का उपार्जन होता है जिससे सुख-सुविधायें मिलती हैं । इससे सिद्ध होता है कि विद्या, विनय, पात्रता/योग्यता से धनार्जन होता है, पुनः उस धन से धन का उपार्जन होता है । 'न्यायोपात्त धनं यजन्' अर्थात् न्याय से धनार्जन करना चाहिए । भतृहरी ने कहा है- निन्दुं नीति निपुण यदि वा स्तवन् । लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा: ॥

नीति निपुण विद्वान् निंदा करें वा स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा पास की भी चली जावे, आज ही मृत्यु हो अथवा एक युग बाद परंतु गंभीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते ।

न्यायोपात्त धन् यजन् गुणगुरुत् सद्ग्रीस्त्रिवर्गं भजन्न

न्योन्यान्गुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो हीमयः ।

युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी

शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागार धर्मं चरेत् ॥

न्याय पूर्वक धन कमाने वाला, गुणी, गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुजनों को पूजने वाला, आदर-सत्कार करने वाला, परनिंदा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए, धर्म, अर्थ, काम का सेवन

करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्ति, ग्राम, नगर और मकान वाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार खानपान और गमनागमन करने वाला, सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये गये उपकार को मानने वाला, जितेंद्रिय, धर्म की विधि को प्रतिदिन सुनने वाला, दयालु और पापभीरु पुरुष गृहस्थ धर्म के पालन करने में समर्थ होता है । उपर्युक्त श्रावकों के गुणों में प्रथम गुण है "न्याय पूर्वक धन कमाना ।" श्रावक जीविका हेतु धर्म में रहता है, व्यापार धंधा करता है इसलिए उसको धन की आवश्यकता पड़ती है तथापि धनार्जन असत् उपायों से नहीं करना चाहिए ।

स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासधात, ठगना, चोरी करना आदि निदित उपायों से धनार्जन रहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं । न्यायपूर्वक धनार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है । जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वही गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है क्योंकि गृहस्थों की प्रवृत्ति प्रायः कर वित्तोपार्जन में ही लगी रहती है । इसलिए धनेच्छुक मनुष्य यद्वा-तद्वा, न्याय-अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं । उनकी मनोभूमि एक देशब्रत सदाचार पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है । न्यायोपार्जन से किया गया धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है । सो ही आचार्यों ने कहा है -

सर्वत्र शुचत्रो धीराः सुकर्म बलगर्विताः ।

स्वर्कर्म निहितात्मनःपापः सर्वत्र शंकिताः ॥

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं । उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है परंतु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं । और भी आचार्यों ने कहा है -

अन्योयोपार्जित वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति । प्रासेत्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

यांति न्याय प्रवृत्तस्य तिर्यक्योपि सहायतां । अपंथानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुश्यति ॥

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दस वर्ष तक रह सकता है और यारहवें वर्ष लगाने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है । न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तीर्यश्च भी सहायता करता है और अन्याय पूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है; दूसरों की तो बात ही क्या ? इसलिए न्याय पूर्वक धनोपार्जन करना चाहिए । परंतु वर्तमान में प्रायः दिखाई देता है कि अनेक लोग अनैतिक व्यापार, हिंसात्मक व्यापार, निषिद्ध व्यापार आदि करके तथा विज्ञापन करके धन कमाते हैं और उससे दानादि करके धर्म करना चाहते हैं ।

जैसे कुछ व्यक्ति स्वयं तो शराब नहीं पीते किंतु शराब की फैक्टरियाँ, दूकाने

चलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं तो बीड़ि नहीं पीते हैं परंतु बीड़ि की फैक्ट्री में बीड़ि बनवाते हैं या दूकान पर बेचते हैं। कुछ व्यक्ति खुद तो मांस नहीं खाते हैं किंतु डालड़ा में चर्बी मिलाकर दूसरों को खिलाते हैं, कुछ व्यक्ति स्वयं चर्म निर्मित वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते हैं परंतु चर्म की विभिन्न सामग्रियाँ यथा - जुते, चप्पल, सुटकेस, बेल्ट, मनी बैग आदि का निर्माण करके विक्रय करते हैं। वे सोचते हैं कि हम तो स्वयं नहीं खाते, प्रयोग में भी नहीं लाते, हम तो केवल धन कमाने के लिए, व्यापार के रूप में प्रयोग में लाते हैं। इसमें हमारा क्या दोष ? परंतु उन्हें जान लेना चाहिए कि केवल पाप कृत रूप में नहीं होता अपितु पाप मनसा-वचसा-कर्मणा, कृत-कारित-अनुमोदना से भी होता है। उनकी सोच ऐसी है कि हम विष पीते नहीं पीलाते हैं यह क्या दोषकारक है ? परंतु विवेक से विचार करने पर सिद्ध होता है कि विष पीने से तो स्वयं की एक ही बार हत्या होती है परंतु विष पीलाने से अनेक व्यक्तियों की हत्या होती है। इसी प्रकार मांस खाने से, बीड़ि-तंबाखू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से तो स्वयं पाप कमाता है परंतु इसके उत्पादन, विक्रय एवं विज्ञापन करने से तो स्वयं पाप कमाता है एवं दूसरों से भी पाप करवाता है, हिंसा करवाता है। इन हिंसात्मक व्यापारों से हिंसा के साथ-साथ पर्यावरण दूषित होता है। विश्व में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में हिंसा व अत्याचारों को प्रोत्साहन मिलता है।

- 1) अज्ञान जीविका 2) वन जीविका 3) शक्ट जीविका 4) भाटक जीविका
- 5) स्फोट जीविका 6) दंत-वाणिज्य 7) लाक्षा वाणिज्य 8) रस वाणिज्य 9) केश वाणिज्य 10) विष वाणिज्य 11) यंत्रपिंडा कर्म 12) निर्लाभन कर्म 13) असतीपोषण 14) दवदान (दावाग्रि लगाने का कर्म) 15) सरः सोष (तालाब आदि का सुखाना) श्रावक को इन 15 कर्मदान रूप अतिचार का त्याग करना चाहिए।

किसी भी प्रकार के पाप, अन्याय, हिंसा, अभक्ष सेवन, भ्रष्टाचार, अश्लीलता, झूठ, चोरी, ठगबाजी, शोषण आदि करना या करवाना अथवा प्रेरित करना आदि अपराध है, पाप है, अयोग्य है, स्व-पर राष्ट्र-विश्व के लिए अहितकारी है। इस दृष्टि से अधिकांश विज्ञापन उपर्युक्त दोषों से युक्त है। जीवनोपायोगी, प्राकृतिक, शुद्ध हितकारी वस्तुओं का विज्ञापन प्रायः नहीं होता है, अपितु प्रायः कृत्रिम, भोग-विलास की वस्तु यथा - साबुन, शैम्पु, नैल पॉलिश, लिपीस्टीक आदि प्रसाधन सामग्रियाँ जो अधिकांशतः हिंसा कारक, अस्वास्थकर वस्तुओं का विज्ञापन होता है। इतना ही नहीं जो नशीली वस्तु शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, राष्ट्रीय स्वास्थ के लिए अहितकारी है जिनका सम्पूर्ण रूप से प्रतिबंध होना चाहिए उसका भी विज्ञापन होता है। भारत में पहले सहयोग/दान रूप में जरूरतमंदों को जीवनोपायोगी सामग्रियों को दिया जाता था। जैसे कि दूध, छाछ, जल, अनाज आदि कृषक या उसके मालिक जरूरतमंदों को देते थे। जिसको अन्नदान, औषधदान,

वस्तिका दान (धर्मशाला) आदि कहा जाता है। बाद में वस्तुओं का विनिमय हुआ जैसा कि किसी को मिट्टी के बर्तन चाहिए तो कुम्हार को कृषक अनाज देकर उसके विनिमय से बर्तन प्राप्त करता था। इसी प्रकार नई, बढ़ई, धोबी, लोहार आदि के साथ होता था। बाद में सुविधा के लिए मुद्रा (रूपये) का विनिमय हुआ, परंतु 1930 में अमेरिका में न्यूजीर्सी से विज्ञापन का प्रारंभ हुआ। जिसका प्रभाव धीरे-धीरे भारत में हुआ और भारतीयों ने भी इस आयातीत बाजारवाद की अयोग्य पद्धति को स्वीकार कर लिया। 1964 में अमेरीका में जब विज्ञापन का प्रयोग टी.वी. में हुआ तब उसकी अपसंस्कृति विकृति में अधिक वृद्धि हो गई। 1966 में इसका प्रयोग एलबम में हुआ और 1998 में इसका प्रयोग इंटरनेट पर हुआ। इसके मध्य में इसका प्रयोग समाचार पत्र से लेकर पत्र-पत्रिका, धार्मिक-ग्रंथ एवं राजनीतिक, धार्मिक क्रियाकलापों में भी होने लगा। आज एक प्रकार आधुनिक युग विज्ञापन का युग हो गया है। पहले विज्ञापन कभी-कभी कुछ समाचार पत्र आदि में आते थे परंतु आज मुख्य समाचार, सूचना, शिक्षा, धर्म आदि तो गौण हो गये और विज्ञापन मुख्य हो गया तथा सब पर हावी हो गया है। विज्ञापन के कुछ नियम, उद्देश्य संक्षिप्तः इस प्रकार है - 1) दूसरों को प्रभावित करना 2) प्रलोभित करना 3) लाभ का लालच देना 4) नविनता को बताना 5) गारंटी देना 6) दूसरों की चीजों में कमी बताना 7) केवल बाह्य डीजाइन, रङ्ग, बनावट, पैकिंग, चमक-धमक को अधिक हाईलाईट करना 8) केवल प्रदर्शन करना 9) अजीबों-गरीब भयंकर, अश्लील हिंसात्मक दृश्य एवं श्राव्य द्वारा दूसरों का ध्यान आकर्षित करना 10) दूसरों को ठगने की योजना होना 11) प्रसिद्ध व्यक्ति या कामूक, अश्लील, हीरो-हीरोइन के द्वारा प्रदर्शन करना, करवाना 12) अस्वास्थकर वस्तुओं का भी डॉक्टरों द्वारा अवैधानिक रूप से स्वीकृति को विज्ञापित करना 13) झूठ-मूड़ समस्या को बताकर उसका समाधान बताकर विज्ञापित करना 14) अन्य वस्तुओं से तुलनात्मक रूप से कम मूल्य बताना 15) हर इच्छापूर्ती का वायदा करना 16) उपभोक्ता में भावुकता उत्पन्न करके उसका दोहन एवं शोषण करना 17) मनोरञ्जनात्मक पद्धति से दूसरों को आकर्षित करना 18) डीमांड का झूठा प्रचार करना 19) ग्राहकों को मुफ्त (फ्री) लाभ का प्रलोभन देना या वस्तु के लाभ को बढ़-चढ़कर के बताना आदि-आदि।

इस विज्ञापन में मुख्यतः प्रलोभन, मायाचारी, झूठ, धोखाधड़ी, अश्लीलता आदि मानसिक प्रदूषण अपराध है। इसके साथ-साथ टी.वी. कार्यक्रम के मध्य-मध्य में बार-बार वही-वही विज्ञापन आता है जिससे मुख्य कार्यक्रम की निरंतरता खंडित होती है। विषज्ञान में व्यवधान पड़ता है, आनंद अनुभव में भी व्यवधान पड़ता है। इतना ही नहीं उस विज्ञापन को देखने वाले लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का समय बर्बाद होता है। जिस समय का सदुपयोग अन्य रचनात्मक कार्य में हो सकता है उस समय का दुरुपयोग इस विज्ञापन में

होता है जिससे व्यक्तिगत उत्पादन से लेकर राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय उत्पादन में कमी आती है, चाहे वह उत्पादन भौतिक, आध्यात्मिक, शैक्षणीक क्यों न हो। उस विज्ञापन में भौतिक संसाधन का भी अनावश्यक दुरुपयोग होता है। यथा - समाचार-पत्र कागज के लिए धास, वृक्ष आदि को काटना पड़ता है। कागज एवं श्याही बनाने के लिए अनेक प्राकृतिक संसाधन, रसायन आदि का दुरुपयोग होता है जिससे प्रकृतिका दोहन-शोषण होता है जिसके फलस्वरूप प्रदूषण बढ़ता है। टी.वी. वेबसाइट, रेडीओ आदि के विज्ञापन से समय, भौतिक साधन, जनशक्ति आदि का दुरुपयोग होता है तथा शब्द प्रदूषण भी होता है। विज्ञापन के कारण मूल वस्तु का प्राकृतिक रूप से जो मूल्य होना चाहिए उससे उसका बाजार मूल्य कई गुणा बढ़ जाता है जिससे आर्थिक शोषण होता है। इससे धनी एवं गरीब की खाई बढ़ती है, एक पूंजीपती मालिक बनता है तो एक शोषित गरीब बन जाता है। कुछ समय के कार्यक्रम के मध्य-मध्य में अनेक बार विज्ञापन देने का मतलब है कि दर्शक/उपभोक्ता अयोग्य है, स्मरण शक्ति से दुर्बल, चुनाव में कमज़ोर, निर्णय क्षमता से रहित है ऐसा सिद्ध करना।

विज्ञापन में विज्ञापीत करने वाले हीरो-हीरोइन आदि को लोग अधिक महत्व देने लगते हैं जिससे उनका अंधानुकरण भी लोग करने लगते हैं। प्रायः नट-नटी (हीरो-हीरोइन) तुच्छ, अश्लील, फैशनी-व्यसनी, भ्रष्ट-भ्रष्टाचारी होते हैं। इसलिए विज्ञापन के माध्यम से इनका दुष्प्रभाव भी दर्शकों के ऊपर पड़ता है। इस प्रकार विज्ञापन से सांस्कृतिक, शारीरिक प्रदूषण भी फैलता है। इन सब कारणों से भले विज्ञापन से उत्पादक, विक्रेता को कुछ आर्थिक लाभ होता हो या पहले-एहल उपभोक्ता को आवश्यक वस्तु की जानकारी मिलती हो, परंतु नेट-प्रोफिट/संपूर्ण लाभ की अपेक्षा हानी अत्यधिक है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व का कल्याणकारी विकास केवल भौतिकता से संभव नहीं है जब तक नैतिकता, आध्यात्मिकता का समन्वय न हो। जैसा कि जीवन में भोजन के साथ-साथ पानी एवं प्राणवायु की आवश्यकता है। 'आवश्यकता अविष्कार की जननी' के बदले में अभी विज्ञापन आवश्यकता बढ़ने से अतृप्ति, तुष्णा, शोषण, ईर्ष्या, अहंकार, दिखावा, तनाव, दुःख, क्लेश, प्रदूषण, हिंसा, चोरी, मिलावट, घोटाला, भ्रष्टाचार, अस्त-व्यस्तता, व्यग्रता, शारीरिक, मानसिक, अध्यात्मिक रोग बढ़ते हैं। यथार्थ से किसी भी वस्तु या व्यक्ति का स्थाई दूरगमी विज्ञापन है, स्व-स्व गुणवत्ता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, उपयोगिता आदि को बढ़ाना न की विज्ञापन बाजी। सांच को आंच नहीं, 'गुण सर्वत्र पूज्यते न च रूपं, न च वयं' 'संत प्रमाण्य अन्यतरत् भजते मूङः पर प्रत्ययनेयं भागी' के अनुसार जैसे मधुमक्खी हूँड-हूँडकर मधु ग्रहण करती है उसी प्रकार गुणग्राही भी सही वस्तु को ग्रहण करते हैं, न कि मूर्ख पशु-पक्षी, मछली आदि के समान प्रलोभन में आकर जाल में फँसकर मरण को प्राप्त करते हैं।



सर्वशिक्षा अभियान विकास खण्ड खेरवाड़ा 9 दिवसीय प्रशिक्षण शिविर (अस्तभादेव) को "शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी तथा शिक्षा फल" के बारे में सम्बोधन करते हुए आचार्य कनक नन्दी गुरुदेव



सम्बोधन श्रवण करते हुए शिक्षक, अभिभावक एवं विद्यार्थी गण।

## विश्व शांति संदेश

विश्व शांति की अविरल धारा बहने दो ।  
महावीर को धरती पर अवतरने दो  
महावीर को धरती . . . . ॥४॥

अनेकांत सिद्धान्त जगत में, होमा सबको आपनाना  
महावीर संदेश सभी को, घर-घर होमा पहुँचाना  
जात पात विद्वेष मिटाकर, प्रीत का इरना इरने दो  
महावीर को धरती..... ॥५॥

सत्य अहिंसा पथ पर चलकर, विश्व गुरु कहलाएँ  
सभी धर्म आपस में मिलकर, स्वर्ण धरा पर लायें  
आत्मकावदी हाथो से अब, रक्त धारन बहने दो  
महावीर को धरती..... ॥६॥

अपरिग्रही बनोगे पर्यावरण तभी बच पायेगा  
कोई शोषित नहीं रहेगा साम्य भाव जब आयेगा  
समता सेवा सदाचार से जीवन आज सवरने दो  
महावीर को धरती..... ॥७॥

युद्ध नहीं है समाधान अब चाहे हो मतभेद कोई  
तभी बचेगी मानवता कहते आगम और वेद यही  
बालद के छेंस पर मिलकर अबकी फूल बरसने दो  
महावीर को धरती..... ॥८॥

संदेश यही मेवाड भूमी से सकल विश्व को जायेगा  
विश्व शांति का पाठ पढ़ाने शंख नाद कहलायेगा  
कनकनंदी गुरु महाप्रज्ञ के यह उद्धार उत्तरने दो  
महावीर को धरती..... ॥९॥